प्रकाशक,
पारिजात प्रकाशन,
डाक बंगला रोड, पटना—१

आयोजक,
कविता-संगम, पटना

मुद्रक,
ए० श० विरजे,
स्वतंत्र प्रेस, बुद्धमार्ग, पटना—१

मूल्य
तीन रुपये

प्रथम संस्करण
१९५९

विषय-सूची

[विवेचन-खंड]

[संचयन-खंड : कविताएँ]

वामन के दो पग

'कविता-सगम' की स्थापना पर जिन बुजुर्गों और स्नेही बघुओं ने हँसी के फौव्वारे छोड़े थे और अपनी मुस्कान मे नीलकंठी पुड़िया घोली थी-मानता हूँ कि यह उनके आर्शीवादो का ही फल है कि आपके हाथो मे सौंप रहा हूँ—यह विवेचन तथा सचयन ।

सशक्तता, जागरूकता, चेतनाशीलता-इन तीन माध्यमो को सदा हमने अपने सामने रखा है, अन्त तक रखेंगे। वे, जो कहने के आदि है, करने के नही-वृत्त बना लें भले ही। आयाम पहुँच के बाहर की वस्तु है! क्योकि, हवा का हल्का सा झोका भी सागर मे हिलोर उत्पन्न करने मे सफल हो जाता है, परन्तु जलधि की महिमा को बडा से बडा तूफान भी नही मिटा पाता।

शकर दयाल सिह,
मत्री, कविता-सगम,
संचालक-पारिजात प्रकाशन,
पटना ।

हिन्दी के महत्वपूर्ण संकलन तथा पत्र-पत्रिकाएँ

मासिक पत्रिकाएँ :

युग चेतना

सम्पादक-डॉ० देवराज, कुंवर नारायण
कृष्ण नारायण कक्कड तथा
डॉ० प्रताप नारायण टंडन
वार्षिक ८ रु०, एक प्रति ७५ नये पैसे
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, गोलागंज, लखनऊ

राष्ट्रवाणी

स०—गो० प० नेने,
वार्षिक ४ रु०, एक प्रति ५० नये पैसे
राष्ट्रभाषा भवन, नारायण पेठ, पूना-२

सुप्रभात

सं० – पृथ्वीनाथ शास्त्री
वार्षिक ८रु०, एकप्रति ७५ न० पै०
७६, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट,
पोस्ट बाक्स ६७०८, कलकत्ता-७

इकाई

सम्पादक— जगदीश
एक प्रति ७५ न० पै०
११, चण्डी घोष लेन, कलकत्ता

ज्योत्स्ना

सम्पादक-शिवेन्द्र नारायण
वार्षिक ६ रु०, एक प्रति ५० न० पै०
एन०पी०कालोनी, बाकरगंज, पटना-४

त्रिपथगा

स०—काशी नाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
वार्षिक ७ रु०, एक प्रति ६२ न० पै०
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

कल्पना

स०—डॉ० आर्येन्द्र शर्मा (प्रधान),
मधुसूदन चतुर्वेदी, बद्री विशाल पित्ती,
मुनीन्द्र, जगदीश मित्तल, गौतमराव
वार्षिक ११ रु०, एक प्रति १ रुपया
५१६, सुलतान बाजार, हैदराबाद-(द०)

कृति

स०—नरेश मेहता, श्रीकान्त वर्मा
वार्षिक ८रु० एक प्रति ७५ न० पै०
१३, जनपथ, नयी दिल्ली

नई धारा

स०-रामवृक्ष बेनीपुरी
वार्षिक ८ रु०, एक प्रति ७५ न० पै०
अशोक प्रेस, महेन्द्रू, पटना

वसुधा

सं०-रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई
वार्षिक ७ रु०, एक प्रति १० आने
दीक्षितपुरा, जबलपुर (म० प्र०)

राष्ट्रभारती

स०—मोहन लाल भट्ट, हृषिकेश शर्मा
वार्षिक ६ रु०, एक प्रति ६२ न० पै०
राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दीनगर, वर्धा

जागृति

वार्षिक ३ रु०, एक प्रति २५ न० पै०
लोक-सम्पर्क विभाग, पंजाब,
६९ माडल टाउन, अम्बाला

संकलन :

समवेत

सं०—राजा दुबे, प्रबोध कुमार
अशोक वाजपेयी, आग्नेय

नवीनतम अंक दो रुपये

चितामणि भवन, सागर, म० प्र०

आकलन

सं०—दामोदर सदन, डॉ० सत्य
भुवनेश्वर

शाहजहानाबाद, भोपाल

वितरक-राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०

आधार

स० परामर्श-रामावतार चेतन

स०—कन्हैया लाल नन्दन

वार्षिक ४-५०, एक प्रति १-५०

स्वास्तिक क्लब, माटुंगा, बम्बई १६

वि०-हिन्दी भवन, रानीमंडी, इलाहाबाद

कविताएँ ५८

[वर्षभर की प्रतिनिधि रचनाएँ]

स०—चन्द्रदेव सिंह

तीन रुपये

प्रकाशक-भारती पुस्तक मन्दिर,
४ डी मधुवा बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता-७

त्रैमासिक पत्र :

दृष्टिकोण

स० शिवचन्द्र शर्मा

वार्षिक १० रु०, एक प्रति २-५०

अ०-भा० हि० शोधमंडल, चीना कोठी
पटना—१

फणीश्वर नाथ 'रेणु'

बंगला कविता

टेबिल पर अनेक किताब

इस बार चिंता स्थिर होने का अवसर
आया है जीवन मे
हृदय वयस्क हो गया है-बहुत .
गहरी रात मे-जलती मोमबत्ती चुपचाप
बुझ जाती है।

अधकार मे एकाध अस्पष्ट चूहो का
फर्श पर चलना-फिरना-अनुभव करता
हूँ।

सभवत छत पर,
बाहर शिशिर-कण झरती है
ठढ मे 'लक्ष्मीउलूक' सहिजन की डाल
पर
पाँखे फटफटा रहा है।

टेबिल पर बहुत-सारी किताबें
बिखरी पडी है
चिंतन (गण) मानो अनुलोम प्रतिलोम
परस्पर—
[छड़ी सीधी-सादी नारी जैसी
चुपचाप खडी है मोमबत्ती !]
—ग्रथित होंगे कभी क्या एक गभीर
सूत्र मे ?

किताब की सारी चिंताएँ
जीवन की सभी भिन्नताएँ
सभी नक्षत्रो और समय की अपार गति

की,
इतिहासवृतान्त की आख्यान कथाएँ
अंकित होगी, कभी ?

इन आश्चर्य तत्त्वो का विचारते, फिर
भी मन अनुभव करता है—
इस अधकार-घर मे आज कोई नही,
सिर्फ एक बिंदु मूल्य-निर्णय की चेष्टा
को छोड कर !

किसी, दूर एक महासागर का ज्वार
आकर स्पर्श करता है, इस अधकार-
बदरगाह को—चुपचाप
किसी एक-दूर-दिशा की ओर चला
जाता है।

तो क्या, समय के अतिम सचय मे
प्रेम करुणा के ककण भी हैं ?
तो क्या, व्यक्ति और मानव की सफलता
होगी ?
हो सकता है, इस ब्रह्माड के अविनाश
अधकार
के सिवा, मनुष्य के भाग्य मे नही कुछ,
मनुष्य के हाथ मे-सेवा, क्षमा स्निग्धता
आदि
मशाल की तरह,
उनके बुझने हुए अध-आधार, बार-बार
एक बडी परिवर्तनीयता की ओर जाना
चाहते हैं
सनातन अधकार मे यह प्रयास अच्छा है।
फिर भी धरती पर प्रेम की
अनेक-गहरी-लम्बी-रेखाएँ

रह गयी है।
उनके (अपरूप) प्रतिभात प्रकाश
जीवन मे हैं।
[जीवनानंद दास की कविता का हिन्दी
रूपान्तर]

॰

डॉ० धर्मवीर भारती

अंग्रेजी कविता एक सफेद पाखुरी

नन्हा कटीला चांद, चमेली के फूल
की तरह
श्वेत और छोटा-सा—
रात के सर्द झुरमुट पर खिला हुआ,
मेरी खिडकी से झांक रहा है।
नारंगी के कोंपल की तरह सजल, पानी
या बरखा फुहार की तरह कोमल।
चांद चमक रहा है, मेरे कैशोर्य के प्रथम
प्रणय की भांति
कलकहीन, वासनाहीन
और निष्फल।
[डी० एच० लारेन्स की कविता का
रूपान्तर]

॰

स्पेनी (चिली) कविता

नीली आग वाली लड़की

जैसे क्षीर सागर के किनारे सैकत
राशि पर
या प्रवाह आकाश मे जडे हुए
एक धधकते नक्षत्र के बीचो-बीच
मैं सो रहा था: मेरे समीप थी एक
पवित्र लडकी।

उसकी निगाहो से तिरछी हरी-भरी
किरणो के निर्मल झरने झरते थे
उनमे स्वच्छ पारदर्शी और अदम्य शक्ति
की भँवरे थी।
दो जादू भरे उभारो मे
दो अग्नि-शिखाएं लहक रही थी
और वे अग्निधाराएं स्वच्छ मासल
लहरो मे इठलाती हुई
कदली खभा जैसी जांघो मे तैरती हुई
उतर गयी थी उसके चरणो तक।
एक स्वर्ण फसल जो अभी पकी नहीं,
उसके कचन-तन के चढावो-उतारो मे
रहस्यमय भविष्य थे
और जादूगरो की नीली-नीली आग
सुलग-सुलग उठती थी।
[पैब्लो नेरुदा की कविता का रूपान्तर]

॰

नरेन्द्र नारायण लाल

उर्दू कविता सन्ध्या

इस तरह है कि हर एक पेड कोई
मदिर है
कोई उजडा हुआ तेजहीन, पुराना
मदिर

रणधीर सिनहा — सम्पादकीय

आज की कविता : कुछ समस्याएँ और समाधान

आज की कविता के लिए परिभाषा की समस्या जटिल हो गयी है। ऐसी स्थिति नहीं कि हमारे आज के चिन्तक अभी तक कोई परिभाषा नहीं ढूंढ सके हैं। परिभाषाएँ बनती जा रही हैं और इन परिभाषाओं के परस्पर सम्पर्क से ऐसी दशा उत्पन्न हो गयी है कि परिभाषाओं की कितनी सीमा को हम समुचित समझें - यह हम निश्चित नहीं कर पा रहे हैं ? यह स्थिति कुण्ठा की स्थिति नहीं है और न इसे हम अस्तव्यस्तता की ही स्थिति मानते हैं। यह आज के युग की अत्यधिक जागरूकता का परिणाम है, जिसका होना कविता के लिए शुभ है।

देखते-ही-देखते प्रगतिवाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद तथा नयी कविता के रूप में, कविता की अनेक परिभाषाएँ गढ डाली गयी। अब नयी कविता की कई परिभाषाएँ गढने का उपक्रम किया जाने लगा है। ऐसा क्यों ? यहाँ हम इन परिभाषाओं के रूप तथा परस्पर अन्तर पर विचार नहीं करना चाहते, वरन् इनके गठन के मूल मे जो प्रवृत्ति काम कर रही है, उसके दृष्टिपरक आधार के सम्बन्ध मे विचार करना चाहते हैं।

ढूँढता है जो शराबी के बहाने कब से ?
टूटा हुआ हर कोठा, हर दीवार प्राणहीन,
आकाश कोई पुरोहित है जो कोठे तने
बदन पर राख मले, माथे पर सिन्दूर
मले
सिर झुकाए बैठा है चुपचाप जाने
कब से ?
इस तरह है कि पर्दे के पीछे कोई
जादूगर है,
जिसने क्षितिज पर बिछाया है किसी
जादूगर का जाल।

आंचल संध्या का है यों ओत-प्रोत समय
के आंचल से,
संध्या अब बुझेगी न अंधेरा होगा,
रात्रि अब ढलेगी न सवेरा होगा,
आकाश आस लिए है कि यह जादू टूटे,
मौन का अंत मिटे, समय की सीमा टूटे
दे कोई शंख दुहाई, कोई पायल बोले,
मूर्ति जाग उठे कोई सांवली घूँघट खोले
[फ़ैज़अहमद 'फ़ैज़' की उर्दू कविता
का रूपान्तर]

आज हमारी चिन्तन-प्रक्रिया गतिशील अधिक है। इस गतिशीलता का कारण यह है कि विगत के कुछ वर्षों मे हम विश्व की गतिविधियो के कई हचके खा चुके हैं और आज का समस्त चिन्तक-समुदाय समस्याओ के मार्ग को शीघ्रातिशीघ्र लाँघ जाना चाहता है। इस चाह मे ध्वस अथवा सृजन के अभिलाषी, किसी तरह तनिक ठहर जाने की इच्छा नही रखते ! वे उचित या अनुचित, अपनी इच्छित दिशाओ की ओर द्रुतगति से बढ जाना चाहते हैं ! ध्वस-मार्ग के अभिलाषियो की द्रुतगामिता विज्ञान और यत्र के क्षेत्र मे हम देख सकते हैं। यद्यपि हम विज्ञान और यंत्र को ध्वस का मात्र उत्तरदायी नही कहते ! दूसरी ओर साहित्य के क्षेत्र मे हम सृजन-मार्ग के अभिलाषियो की द्रुतगामिता देख सकते हैं, यद्यपि हम साहित्य को सर्वांशत सृजन का उत्तरदायी नही घोषित करते !

हम यह मानते हैं कि आज की कविता (यहाँ हम हिन्दी कविता को ही आदर्श के रूप मे स्वीकारते हैं) सृजन-मार्ग का अन्वेषण कर रही है और आज के हमारे काव्यकार, पाठक तथा आलोचक सृजन की प्रक्रिया मे रत हैं, उनकी समस्त चेष्टाओ से जिन परिभाषाओ की उत्पत्ति हो रही है वे सार्थक हैं, स्थायी हैं। फिर आज की कविता का सृजनात्मक पक्ष अधिक जागरूक और प्रबुद्ध होता चला जा रहा है तो इसमे अस्वाभाविकता क्या ? परिभाषाओ की कडियाँ समस्याएँ उत्पन्न करने के लिए नही हैं, समाधान के लिए हैं और हमे इसी सही दिशा की ओर सोचना चाहिए! जहाँ भी हम इन कडियो से कुण्ठा और अस्तव्यस्तता का रूप उत्पन्न होते देखते है वहाँ हमे अपने को असमर्थ और ग्रहण-शक्ति के लिए अक्षम मानना होगा। पहले इन कडियो को समझ सकने तथा उनकी वास्तविकता के परिणामो का पचा सकने की शक्ति हमे अपने आप म लानी चाहिए और तब हम आज की कविता और सृजन की प्रक्रिया के प्रति न्याय कर सकते हैं। आज हम निर्णय के क्षेत्र मे विचारको को दृष्टि का ही मुख्य सहारा लेते रहे हैं जबकि सृजन की प्रक्रिया मे, विचारको की दृष्टि तथा युग की अपनी संवेदनशीलता, दोनो का ही योग होता है। हम युग की सवेदनशीलता की पृष्ठभूमि मे ही इन परिभाषाओ को देख सकते हैं। यही, परिभाषाओ के पर्यवेक्षण की सही पद्धति हो सकती है।

आज की कविता की विभिन्न परिभाषाओ का पर्यवेक्षण, सही पद्धति के अनुसार, करने पर हम इसी तथ्य पर आते हैं कि विभिन्न परिभाषाओ के

मूल्य पर किसी एक बृहद् परिभाषा का ढाँचा निश्चित करना, आज की कविता के प्रति विश्वासपात्रता नही हो सकती। निर्णय मे अधिक अनुमान का आधार ग्रहण करना कसौटी की व्यापकता होगी क्योंकि निर्णय की भूल हमे गलत दिशा मे भटका सकती है जबकि अनुमान की भूल हमे फिर से सही पद्धति का अध्ययन करने को प्रेरित कर सकती है !

शनै. शनैः एक परिभाषा के लिए विविध तथ्यों का संग्रह होता जा रहा है। इस निर्माण की रीति मे हमे सोचने-समझने की पर्याप्त सामग्रियाँ एकत्रित हो रही हैं। नित्य-प्रति नयी सामग्रियों का योग प्राप्त हो रहा है। ऐसी स्थिति मे इन सामग्रियों के उपयोग का कोई भी शीघ्रतापूर्ण आग्रह, आज कविता का हित नही करेगा। हमे आज की कविता के हित मे धैर्य और विलम्ब का आश्रय लेना ही होगा।

× ×

नयी रचनाशीलता के विषय मे कुछ समस्याएँ उठायी गयी हैं। इसके अभाव के एक नहीं, कई कारण बताये गये हैं। एक यह कि बहुत से कवियों मे अनुभूति, भाषा और मुहावरे का सादृश्य उस स्थिति का ही एक गम्भीर परिणाम है। नयी रचनाशीलता का अर्थ क्या समझा जाए ? नयी कविता के आगे भी नयी रचनाशीलता की आवश्यकता आज ही अनुभव की जाए ? रीतियाँ जिस अर्थ मे आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व तोड़ी गयी थी उसी प्रकार आज फिर रीतियों को तोड़ने का अवसर आ गया है ?

नयी रचनाशीलता का यह अर्थ नहीं लिया जाए कि कविता मे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। भाव और अनुभूति से लेकर कथ्य, प्रतीक, उपमान और भाषा—सभी को नये रूप देने की आवश्यकता है। आज यह मानना रचनात्मक चिंतन नहीं कहा जा सकता! पन्द्रह वर्ष पूर्व जो नयी रचनाशीलता हिन्दी कविता मे दीख पड़ी—उनसे हम अवगत है, उसके पश्चात् नयी कविता के रूप मे जो नयी रचनाशीलता का उदाहरण मिला उसका एक दशक भी अभी पूर्ण नहीं हुआ है। किन्तु एक दशक के भीतर ही हमारे सुधी पाठक कविता मे ऊब और नीरसता के कारण त्रास करने लगे हैं। क्या यह कविता के, आस्वादन के प्रति सही दृष्टिकोण है ? एक दशक पूर्व जो हमे कविता का नया रूप मिला, वह आमूल परिवर्तन का रूप था और उसे हम मात्र 'नया' की ही संज्ञा नहीं दे सकते वरन् वह कई अर्थों मे क्रान्तिकारी मोड़ सिद्ध हुआ!

नयेपन के लिए जो सारी रीतियाँ तोडी गयी, परम्परा के क्षेत्र मे जो एक लम्बी दूरी तय की गयी, सृजन के क्षेत्र मे जो एक नया अध्याय रचा गया—वह सब एक दीर्घ युग की माँगें थी। ऐसी माँगें हर क्षण नही आती- एक लम्बे अन्तराल के बाद ही आती हैं। यदि नये अध्यायो की रचना हर क्षण पर करने की चेष्टा हो तो कविता की स्थिति विद्रूपात्मक हो जाएगी—उसकी रूप-विधि टेढी-मेढी होकर कुरूप बन जाएगी और नयी रचनाशीलता की उथल-पुथल करनेवाली चेष्टा से एक हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

इतना कहने का हमारा तात्पर्य यह नही कि हम पिष्टपेषण, पुनरावृत्ति अथवा पुरातन के प्रति मोही हैं। हम नयी रचनाशीलता का अर्थ यही ग्रहण करते हैं कि नयी कविता को अपने रीति-विधान मे ईमानदारी के साथ कसा जाए। जीवन और जगत के प्रति कवि की जो ईमानदारी होगी वह रीतियो के अन्तर्गत ही नयी कविता को नयी-नयी सक्रियता से ही सम्पन्न करेगी। क्योंकि कवियो की अपनी-अपनी ईमानदारी एक दूसरे से नयी होती है। नयी कविता की रीतियो से कवियो का जहाँ व्यवस्थित ढग से नियत्रण होगा वहा नयी रचनाशीलता का अभाव नही रहेगा। अनुभूति, भाषा और मुहावरे का सादृश्य, यदि अधुनातन सवेदनाओ के प्रति कवि निष्ठावान हो, तो अहितकर नही कहा जा सकता। अधुनातन के प्रति सचेष्ट दो विभिन्न कवियो की रचनाओ मे अधुनातन मुहावरो, बिम्बो, उपमानो अथवा प्रतीको का सादृश्य मिल जाना अस्वाभाविक नही। हम देखते हैं कविता का प्रायः प्रत्येक युग, ऐसे सादृश्य मे अछूता नही है। हिन्दी कविता का भक्ति-युग कई स्थलो पर मुहावरो, अथवा उपमानो के सादृश्य से पूर्ण है। रीति कालीन युग भी ऐसे (रीतिबद्धता, नायिका-भेद, प्रतीक आदि के) सादृश्य के कारण कही टूटता नहीं। छायावाद के प्रमुख चार कवि भी इससे मुक्त नही! फिर आज नयी कविता के कवियो मे भाषा, अनुभूति और मुहावरे का जो सादृश्य है, वह कहीं-न-कही कवियो के अपने वैयक्तिक सम्पर्क के कारण सरस और प्रवाहपूर्ण बन गया है? एक ही अनुभूति, एक ही मुहावरा दो विभिन्न व्यक्तियो के निजी सम्पर्क मे दो अभि-व्यक्तियों का जन्म दे सकते हैं बशर्ते कि व्यक्तियो ने अपने सम्पर्क मे ईमानदारी का सहारा लिया हो।

इसलिए सादृश्य निष्ठा के अभाव मे कामचलाऊपन की समस्या उपस्थित कर सकता है किन्तु निष्ठा के योग मे नहीं और नयी रचनाशीलता के लिए

निष्ठा अत्यावश्यक है। हमारे पाठको और विचारको को कई अशो तक सहयोग की स्थिति उत्पन्न करनी होगी। जब हम किसी पुराने महाकाव्य का आस्वादन करते हैं, तब हम कई अशो तक उसकी रचना विधि से मतभेद रखते हुए भी उसके आस्वादन का लाभ उठाना चाहते हैं और उसके पठन मे सहयोग की स्थिति उत्पन्न करते हैं। नयी कविता के आस्वादन मे भी हमे सहयोग की स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए। फिर ऊब और नीरसता का कोई कारण नही, किन्तु नयी कविता के रचनाकारो से हमारा विशेष आग्रह है कि वे अपने स्वयं के निर्माण मे प्रयत्नशील तो रहें ही किन्तु यह न भूल जाएँ कि उन्हें अपने युग के निर्माण मे भी योग-दान देना है। स्वयं के निर्माण मे वे जितने स्वतत्र हैं, युग के निर्माण के लिए उन्हे उतना ही नियत्रित और विधानगत होना चाहिए। युग से ऊपर उठ कर अपने स्वय के स्थापन का प्रयास, अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर देगा। नये रचनाकार नयी कविता की रीतियो को पहले पूर्णता तक पहुँचाने की चेष्टा करें उसके पश्चात आमूल परिवर्तन की एक नयी स्थिति तो उत्पन्न होगी ही! अभी हमे, अपने युग को पूर्णता तक पहुँचाना है! हर कदम पर नयी क्राति, नयी उथल-पुथल, नवीनता का परिचायक नही।

X X X

व्यक्तित्व के विषय मे भी कुछ समस्याएँ उठायी जाती हैं? नयी कविता को कविता मान लेने पर भी कहा जाता है कि वह व्यक्तित्व नही उत्पन्न कर सकी है? इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। साहित्य के मूल्याकन के लिए व्यक्तित्व को कसौटी मानने की प्रणाली हिन्दी साहित्य के लिए नयी नही है। पहले व्यक्तित्व के आधार पर ही साहित्य के विभिन्न युगो की क्षमता का मूल्याकन किया जाता था तथा प्रभावशाली व्यक्तित्वों के नाम पर युग विशेष का नामकरण भी होता था। पीछे चलकर साहित्य-युगो का मूल्याकन उनकी प्रवृत्तियो के आधार पर किया जाने लगा, किन्तु प्रवृत्तियो के मूल मे भी व्यक्तित्व-मोह की भावना छिपी रही है और आज भी इस मोह से हिन्दी के अधिकांश आलोचक मुक्त नही हो सके है। नयी कविता के प्रादुर्भाव से व्यक्तित्व की इस समस्या पर विचारने को चिन्तन की एक नयी दिशा मिली है।

हम हिन्दी साहित्य के अतीत की पृष्ठभूमि पर ही विचार करें तो अन्तर के कई उदाहरण मिलेगे। भक्तिकालीन राम-काव्य एक समृद्ध काव्य है,

किन्तु उसमे केवल तुलसीदास का ही व्यक्तित्व दिखलाई पडता है। भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य भी एक समृद्ध काव्य है, किन्तु उसमे विद्यापति, मीराबाई, सूरदास, नन्ददास आदि के कई व्यक्तित्व मिलते है और रीतिकाव्य भी एक समृद्ध काव्य है, किन्तु उसमे अपेक्षाकृत सबसे अधिक व्यक्तित्व मिलते हैं। इन तीनो काव्य-युगो की परस्पर तुलना करने पर यह परिणाम निकलता है कि रीतिकाव्य और कृष्ण-काव्य के ओसत कवि, राम-काव्य के ओसत कवि से अच्छे है तथा उनके ओसत स्तर भी अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न हैं।

आधुनिक हिन्दी काव्य की पृष्ठभूमि मे भी कुछ ऐसे ही तथ्य प्राप्त होते हैं। छायावादी कविताओ के सग्रह करने की बात जब आती है तो हमारे सग्रहकार प्रसाद, निराला, पत और महादेवी की ही रचनाएँ समेट कर रख देते हैं। छायावाद-युग का सम्पूर्णत प्रतिनिधित्व इन चार व्यक्तित्वो को लेकर कर दिया जाता है लेकिन नयी कविता के साथ समस्या दूसरी है। नयी कविता का प्रतिनिधित्व केवल दो-चार व्यक्तियो की रचनाओ से नही हो पाता वरन् आज तो जैसे कई व्यक्तियो की रचनाओ से ही इसका सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व सम्भवसाध्य दीखता है। इसका अर्थ क्या है? ओसत स्तर की उन्नति! छायावाद की तुलना मे नयी कविता का ओसत स्तर अधिक सम्पन्न और वैविध्यपूर्ण है। हजार अच्छी रचनाओ की रचना चाहे एक व्यक्ति करे अथवा सौ व्यक्ति करें, सम्पन्नता का आधार तो यह है कि उन रचनाओ की उपलब्धियाँ क्या हैं? परन्तु हमारे समीक्षको ने दूसरी ही स्थिति उत्पन्न कर दी है। उनकी दृष्टि मे यदि हजार अच्छी रचनाओ का रचनाकार कोई एक हो तो वह व्यक्तित्व है, युग के लिए श्रेष्ठ है और वही वास्तविक रूप से युग की सम्पन्नता का, मूल्याकन का आधार है। व्यक्तित्व के प्रति इस प्रकार का आग्रह समुचित नही और न साहित्य के युग-निर्माण तथा स्तर-निर्धारण के लिए ही।

अधिक रचनाकारो के योग से स्थापित युगविशेष वैविध्य तथा व्यापकता की गरिमा से ही परिपूर्ण नहीं होता वरन् उसकी सम्भावनाएँ भी अधिक होती हैं। युग हमारा उद्देश्य है, व्यक्ति आधार! व्यक्ति को उद्देश्य मानने का ही परिणाम है सीमा, सकोच और दलबन्दी! उन्मुक्तता और स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है कि अधिकाधिक व्यक्तित्व उभरें और उनका स्वागत हो। इस ओर से हम निराश नहीं हैं।

लक्ष्मी नारायण सुधांशु

आधुनिक कविता बनाम नयी कविता—एक समीक्षा

आधुनिक कविता के अंतर्गत नयी कविता को स्थान प्राप्त है या नहीं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। विचारणीय यह शायद इसलिए माना जाता है कि आधुनिक कविता मे काव्य की परम्परा अविच्छिन्न है, किन्तु नयी कविता मे परम्परा के पालन का कोई आग्रह नही है या इसे यो भी कहा जा सकता है कि परम्परा को विच्छिन्न करने से ही नयी कविता को उन्मुक्त वायुमंडल मिल सकता है। छायावादी या रहस्यवादी धारा की प्रतिक्रिया से जो कविताएँ रची गयी वे ही मुख्यतः नयी कविता की श्रेणी मे आती हैं। हम यह जानते हैं कि प्रतिक्रिया से उत्पन्न कोई भी भाव, विचार, वस्तु अपने मूल स्वरूप मे स्थायी नही होती, शुद्ध भी नहीं होती। प्रतिक्रिया के जोर से जब क्रिया दब जाती है तब प्रतिक्रिया भी स्वतः नष्ट हो जाती है, क्योंकि प्रतिक्रिया को क्रिया से ही जीवन प्राप्त होता है।

'अज्ञेय' ने अपने 'तार-सप्तक' मे प्रयोगवाद के उदाहरण के रूप मे जो कविताएं संगृहीत की हैं वे नयी कविता की श्रेणी मे परिगणित हो सकती हैं, इस विचार से यह स्पष्ट है कि 'तार-सप्तक' के प्रकाशन के पूर्व ही नयी कविता का जन्म हो चुका है।

छायावाद और रहस्यवाद मे तात्त्विक भिन्नता के प्रश्न को लेकर कवियों तथा आलोचकों में जिस प्रकार मतैक्य नही है उसी प्रकार प्रगतिवाद, प्रयोगवाद

और नयी कविता की परिभाषाओं में भी विचारों की एकरूपता नहीं पायी जाती। इसका एक कारण यह भी है कि नयी कविता का नेतृत्व सगठित नहीं है। जो कवि जैसा चाहता है अपनी कविता को स्वतंत्र रूप देता है। नयी कविता के नाम पर प्रकाशित होनेवाली या चलनेवाली कविताओं में एक जैसा-मेरूदंड नहीं है। सामान्य रूप से कविता के स्वरूप तथा जीवन का जो शाश्वत सत्य है वह नयी कविता में निर्दयतापूर्वक वहिष्कृत है। आज जो कविता नयी है वह कल पुरानी भी होगी, इस स्थिति पर विचार करने से नयी कविता के उन्नायकों की दशा भी जरा-जर्जर मानी जाएगी—आज नहीं, पर कल अवश्य। छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद के उन्नायक अब साहित्यिक इतिहास में गत युग की सामग्री बन गये हैं।

नयी चेतना जगते ही युग का परिवर्त्तन होने लगता है। उस समय प्रतिभा-संपन्न कलाकार विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों के पोषण के लिए युग का नेतृत्व करते हैं। आत्म-विश्वास की दृढता तथा अंधकार में ज्योति प्रसारित करने की क्षमता जिसमें जैसी रहती है वह अपने युग का वैसा ही कलाकार नेता बनता है। साधारणतः ऐसे कलाकार नेता युग की प्रवृत्तियों को एक सीमा में बांध कर साहित्यिक वाद का प्रवर्त्तन करते हैं। इसकी एक बड़ी उपयोगिता यह है कि इससे गति में तीव्रता उत्पन्न होती है। पर सदैव गतिशीलता ही हमारा लक्ष्य-बिंदु नहीं होना चाहिए। तेज चलने वाले को सतत इस बात पर ध्यान रखना ही पडता है कि वह जा कहाँ रहा है। यदि गंतव्य अज्ञात है तो गति का कोई अर्थ नहीं। अर्थ निकालने की चेष्टा की भी जाए तो वह विनाश की ओर ही ले जाता मालूम पडेगा। कारण स्पष्ट है। हम दिन का काम घंटे में, और घंटे का काम मिनट में करने के अभ्यासी हो रहे हैं। बडे-बडे प्रबंध-काव्यों की अपेक्षा हम छोटी-छोटी मुक्तक कविताओं से रसास्वादन तथा मनोरंजन करना चाहते हैं। लंबे उपन्यासों के बदले छोटी-छोटी कहानियों से अपना जी भरना चाहते हैं, यह सब ठीक है, लेकिन गति की तीव्रता का यह अर्थ कदापि नहीं होना चाहिए कि हमें क्षण भर भी कहीं स्थिर होने का मौका नहीं मिले। फूल के पौधे की बाढ ऐसी नहीं होनी चाहिए कि उसमें खिले हुए फूलों की पंखड़ियाँ अपना सौंदर्य और सुगंध बिखेरने के पहले ही झडकर भूमिसात् हो जाएँ। यद्यपि प्रतिभा-संपन्न होते हुए भी महाकवि रवीन्द्रनाथ

ठाकुर ने किसी महाकाव्य की रचना नही की; अपनी प्रतिभा का प्रसाद गीतो के रूप में ही बाँटा, पर उन गीतो मे उन्होने हृदय को, मनप्राण को रमने के लिए उचित अवसर दिया। अपनी वृत्तियो के पोषण के लिए हृदय को स्थिरता चाहिए। जल्दी का काम शैतान का, इसी कारण मशहूर है। रेलगाडी की तेज रफ्तार तो तभी उचित मानी जा सकती है जब वह किसी स्टेशन पर यात्रियो को चढ़ने-उतरने के लिए ठहर कर सुविधा दे। आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियो मे परिवर्त्तन की गति इतनी तीव्र है कि वह सहज ही क्राति का नाम धारण कर सकती है। रहस्यवाद तथा छायावाद के जाते-जाते प्रगतिवाद आया, और प्रगतिवाद को धक्का देकर प्रयोगवाद सामने आ धमका। कहना नहीं होगा; प्रयोगवाद का विवेचन-विश्लेषण करते-करते वह भी हमारे सामने से चल निकलेगा और उसकी जगह पर कोई नया साहित्यिक वाद उपस्थित हो जाएगा। मुझे ऐसा लगता है कि नयी कविता प्रयोगवाद के अस्तित्व पर आसीन हो गयी है।

आजकल के अधिकांश प्रयोगवादी कवि हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क से ही कविता रचते हैं। साहित्यशास्त्र-द्वारा अनुमोदित नवरस के अंतर्गत उनकी कविताएं नहीं आती, अजाने कही कुछ पक्तियो की योजना मे रस की बूंदें मिल भी जाएं तो वे उन्हें शास्त्रानुमोदित रस-निष्पत्ति की परपरा से सबद्ध करना पसद नही करते, क्योंकि इससे उन्हें परपरावादी बन जाना पडेगा। कविता के लिए रस जरूरी है तो वे बुद्धि-रस की कल्पना सहज मे ही कर सकते हैं। स्वयं 'अज्ञेय' ने सिद्धात रूप से यह स्वीकार किया है कि रूढि की साधना साहित्यकार के लिए वांछनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है। सिद्धात रूप से जिस तथ्य को नये कवि स्वीकार करते हैं, प्रयोग रूप में उसका बहिष्कार ही किया जाता है। रूढ़ि स्वयं कोई बुरी चीज नही है, रूढिवादिता भले ही बुरी हो। रूढ़ि के बिना हमारा जीवन-संचालन ही संभव नहीं है, हमारे सब भाव, विचार, क्रिया किसी-न-किसी प्रकार की रूढ़ि पर ही अवलंबित हैं। काव्यरचना स्वत रूढि है। रूढि उसी समय बुरी मानी जाती है और बुरी मानी जानी चाहिए जब वह विकास का मार्ग अवरुद्ध करे। वृक्ष मे आवेष्ठित त्वचा या छाल उसकी रूढ़ि है, पर वृक्ष की छाल वृक्ष के विकास मे कोई बाधा नही देती, वरन् उसके विकास मे, धड़ को

संरक्षित कर, सहायता ही पहुँचाती है। ज्यों-ज्यों वृक्ष विकसित होकर मोटा होता जाता है त्यों-त्यो उसकी छाल अवकाश देकर विकसित होती चलती है। जहाँ छाल ने विकास को रोकने की चेष्टा की वहाँ छाल को ही जीर्ण-शीर्ण होकर वृक्ष से अलग हो जाना पडता है। छाल से वृक्ष को जिस प्रकार पोषण मिलता है उसी प्रकार रूढि या परपरा से कविता को जीवन मिलता है। परपरा से खडित कविता वृक्ष की खडित शाखा की तरह नीरस और शुष्क हो जाती है। नये कवियो मे उत्साह की कमी नही है। उत्साह मे वडी शक्ति होती है इस उत्साह से साहित्य को लाभ उठाना ही चाहिए। सिद्धात रूप से रूढि या परपरा के साथ वे जो सबध स्वीकार करते हैं, व्यवहार रूप मे भी यदि वे उसका पालन करें तो प्रयोगवादी या नयी कविता से हिंदी साहित्य विशेष रूप से समृद्ध होगा, इसमे सदेह या द्विधा की कोई वात नही।

जो सिद्धात वहुजनानुमोदित होता है उसे काव्य का विषय वनाने में सुविधा होती है। भाव की वाधा दूर करने के लिए यदि तर्क का सहारा लिया जाए तो यह उचित ही है, पर तर्क के सहारे किसी सिद्धात को, कविता के माध्यम से गले नही उतारा जा सकता। कविता मे यह क्षमता भी नही होती। जो कवि क्षमता से अधिक कविता से काम लेने का प्रयत्न करते हैं उनकी असफलता पहले से सिद्ध रहती है। नये सिद्धात या तथ्य को कविता के माध्यम से सर्वजनप्रिय वनाना वडा कठिन है। इसे यो भी कहा जा सकता है कि कविता का यह व्यवसाय ही नही है।

जीवन मे वस्तुत नया कुछ नही है, जो कुछ है वह सनातन है। उसे नये रूप मे, नई अभिव्यजनाशैली मे प्रस्तुत करना ही नवीनता है। नया या पुराना अच्छा या वुरा, ये वातें वहुधा भ्रम मे डालनेवाली हो जाती हैं। कोई वस्तु नयी है या पुरानी, यह काल-धर्म है, पर कोई वस्तु अच्छी है या वुरी, यह उसका गुण-धर्म है। नयी कविता नयी होने के कारण ही अच्छी नही मानी जा सकती, और पुरानी कविता पुरानी होने के कारण ही वुरी नही हो जाती। गुण-दोष नया पुराना होने पर निर्भर नहीं करता। सव पुरानी कविताओ को समाधिस्थ कर नयी कविता की वात करना विना स्तभ के ही ध्वजा फहराना है।

प्रत्येक जाति अपनी सभ्यता, सस्कृति, विद्या-वुद्धि, भावना कल्पना आदि के आधार पर प्रतीक-निर्माण करती है। कुछ प्रतीक धार्मिक क्षेत्र मे रहते हैं

ओर कुछ साहित्यिक क्षेत्र मे व्यवहृत होते हैं। दोनो प्रकार के प्रतीको मे आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्त्वो का योग आवश्यक है। नयी कविता मे कुछ ऐसे प्रतीको की उद्भावना कर ली गयी है जो हृदय मे आनद, उल्लास के बदले विराग या घृणा ही उत्पन्न करते हैं। समाज-रचना की प्रकृति पर ध्यान दिये बिना प्रतीकवाद का विकास सभव नही है। बहुत-से प्रतीक ऐसे भी होते हैं जो सामाजिक परंपरा से संबंध न रखकर वैयक्तिक होते हैं और उनका बोध समस्त कविता की मूल प्रेरणा से होता है। नयी कविता मे ऐसे प्रयोग किये गये हैं, किंतु सफलता बिलकुल नही मिल सकी है।

परपरागत प्रतीको मे आकाश, कमल, चद्र, हस, समुद्र, आदि को छोडकर गधा, ऊँट, छिपकिली, कीचड, मेढक आदि को प्रयुक्त करने की जो चेष्टा की गयी है वह नये कवियो के सौंदर्य-बोध का स्पष्ट प्रमाण है। इसकी मूल भावना का सबध प्रगतिवाद के उस प्रयत्न के साथ मिलाया जा सकता है जहाँ राजा के बदले भिखारी को साहित्य मे महत्त्व का स्थान दिया गया है। जहाँ तक युगधर्म का प्रश्न है, समय-समय पर वस्तु-विशेष, विचार-विशेष को महानता मिली है। आधुनिक कविता या नयी कविता मे परंपरा के प्रति कितना ही विद्रोह क्यो न व्यक्त किया गया हो, इसमे नये युग का प्रेरक सदेश भी है। काव्य या साहित्य को इससे कुछ नयी चेतना मिली है, कुछ अच्छे प्रयोग भी किये गये हैं। इस लाभ को अस्वीकृत नही किया जा सकता। खेद की बात इतनी ही है कि अच्छे-से-अच्छे प्रतिभा-संपन्न नये कवियो की शक्ति का जितना अपव्यय होता है वह राष्ट्र तथा साहित्य की शक्ति का अपव्यय है। यदि यह बच पाता तो ठीक होता। यो अब वह दिन बहुत दूर नही है जब आधुनिक कविता या नयी कविता का उत्तराधिकारी युग सामने आ धमकेगा।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

मैं क्यों लिखता हूँ ?

मैं क्यो लिखता हूँ ? यह प्रश्न बड़ा सरल जान पड़ता है, पर बड़ा कठिन भी है। क्योकि इसका सच्चा उत्तर लेखक के आंतरिक जीवन के कई स्तरों से सबंध रखता है, और उन सबको सक्षेप मे कुछ वाक्यों मे बाँध देना आसान तो नही ही है, न जाने सभव भी है या नही। इतना ही किया जा सकता है कि उनमे से कुछ का स्पर्श किया जाए—विशेष रूप से ऐसो का जिन्हें जानना दूसरो के लिए उपयोगी हो सकता है।

एक उत्तर तो यह है ही कि मैं इसीलिए लिखता हूँ कि स्वय जानना चाहता हूँ कि क्यो लिखता हूँ—लिखे बिना इस प्रश्न का उत्तर नही मिल सकता है। वास्तव मे सच्चा उत्तर यही है। लिखकर ही लेखक उस आभ्यंतर विवशता को पहचानता है जिसके कारण उसने लिखा—और लिख कर ही वह उससे मुक्त हो जाता है। मैं भी उस आंतरिक विवशता से मुक्ति पाने के लिए उसे तटस्थ हो कर देखने और पहचान लेने के लिए लिखता हूँ। मेरा विश्वास है सभी कृतिकार, क्योकि सभी लेखक कृतिकार नही होते, न उनका सब लेखन कृति होता है, इसीलिए लिखते हैं। यह ठीक है कि कुछ ख्याति मिल जाने के बाद कुछ बाहर की विवशता के कारण भी लिखा जाता है—संपादकों के आग्रह से, प्रकाशको के तकाजे से, आर्थिक आवश्यकता से। पर एक तो कृतिकार हमेशा अपने सम्मुख ईमानदारी से यह भेद बनाए रखता है कि कौन-सी कृति भीतरी प्रेरणा का फल है, कौन-सा लेखन बाहरी दबाव का, दूसरे

यह भी होता है बाहर का दबाव वास्तव मे दबाव नही रहता, वह मानो भीतरी उन्मेष का निमित्त बन जाता है। यहाँ पर कृतिकार के स्वभाव और आत्मानुशासन का महत्त्व बहुत होता है। कुछ ऐसे आलसी जीव होते हैं कि बिना इस बाहरी दबाव के लिख ही नहीं पाते—इसी के सहारे उनके भीतर की विवशता रूप लेती है—यह कुछ वैसा ही है, जैसे प्रातःकाल नींद खुल जाने पर कोई बिछौने पर तबतक पडा रहे जबतक कि घडी का अलार्म न बज जाए। इस प्रकार वास्तव मे कृतिकार बाहर के दबाव के प्रति समर्पित नही हो जाता, उसे केवल एक सहायक यंत्र की तरह काम मे लाता है जिससे भौतिक यथार्थ के साथ उसका संबंध बना रहे। मुझे इस सहारे की जरूरत नही पड़ती, लेकिन कभी उससे बाधा भी नही होती। उठनेवाली तुलना को बनाए रहूँ, तो कहूँ कि सवेरे उठ जाता हूँ अपने-आप ही, पर अलार्म भी बज जाए, तो कोई हानि नहीं मानता।

यह भीतरी विवशता क्या होती है? इसे बखानना बडा कठिन है। क्या यह नही होती, यह बताना शायद कम कठिन नही होता है। या उसका उदाहरण दिया जा सकता है—कदाचित् वही अधिक उपयोगी होगा। अपनी एक कविता की कुछ चर्चा करूँ जिससे मेरी बात स्पष्ट हो जाएगी।

मै विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूँ, मेरी नियमित शिक्षा उसी विषय मे हुई। अणु क्या होता है, कैसे हम रेडियम-धर्मी तत्त्वों का अध्ययन करते हुए विज्ञान की उस सीढ़ी तक पहुँचे जहाँ अणु का भेदन संभव हुआ, रेडियम-धर्मिता के क्या प्रभाव होते हैं—इन सब का पुस्तकीय या सैद्धांतिक ज्ञान तो मुझे था। फिर जब हिरोशिमा मे अणु-बम गिरा तब उसके समाचार मैंने पढ़े, और उसके परवर्ती प्रभावो का भी विवरण पढता रहा। इस प्रकार उसके घातक प्रभावों का ऐतिहासिक प्रमाण भी सामने आया। विज्ञान के इस दुरुपयोग के प्रति बुद्धि का विद्रोह स्वाभाविक था, मैंने लेख आदि मे कुछ लिखा भी। पर अनुभूति के स्तर पर जो विवशता होती है, वह बौद्धिक पकड़ से आगे की बात है, और उसकी तर्कसंगति भी अपनी अलग होती है। इसलिए कविता मैंने इस विषय मे नहीं लिखी। यो युद्ध-काल मे भारत की पूर्वीय सीमा पर देखा था कि कैसे सैनिक ब्रह्मपुत्र मे बम फेंककर हजारो मछलियाँ मार देते थे जबकि उन्हे

कुछ क्षण का वह उदय अस्त !
केवल एक प्रज्वलित क्षण की
दृश्य सोख लेने वाली दोपहरी !
फिर ?
छायाएँ मानव-जन की
नहीं मिटी लंबी हो-हो कर
मानव ही सब भाप हो गये ।

छायाएँ तो उजली अभी लिखी हैं
झुलसे हुए पत्थरो पर
उजली सडको की गच पर ।

मानव का रचा हुआ सूरज
मानव को भाप बना कर सोख गया ।
पत्थर पर लिखी हुई यह
जली हुई छाया
मानव की साखी है ।

नरेश

दो नये कवि शरद देवड़ा और श्याम सुंदर घोष

काव्य का स्वरूप क्या है, क्या हो, यह प्रश्न शायद मोनालिजा की मुस्कान जितना ही रहस्यमय, अगम्य तथा उलझनपूर्ण है। प्रत्येक युग मे, प्रत्येक भाषा मे इस पर विचार किया गया है और शायद मनुष्य इस पर विचार करते कभी थकेगा भी नहीं। अत आज की हिंदी कविता को प्रयोगवादी, प्रगतिवादी अथवा नयी की सज्ञा से जो अभिहित किया जा रहा है, वह कितना और किस अर्थ मे काव्य के क्षेत्र मे प्रयोग है, प्रगति है अथवा नयी है, कहना कठिन है, फिर भी जब मै आपको दो नये कवियों से, शरद देवड़ा तथा श्याम सुन्दर घोष से, परिचित कराने चला हूँ तो इनकी कविताएँ किस कोटि मे रखी जा सकती हैं, कहना पड़ रहा है।

शरद देवड़ा तथा श्याम सुन्दर घोष इस मानी मे नये कवि कहे जा सकते हैं कि इन्होने हाल ही लिखना शुरू किया है। हो सकता है, ये एक अर्से से कविताएँ लिखते रहे हो, किंतु इनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओ मे इधर ही के कुछ वर्षों से प्रकाश में आने लगी हैं। यूँ कहिए, हिंदी साहित्य-जगत मे दो अपेक्षया नये हस्ताक्षर हैं। बस! परिचय की शायद आवश्यकता इसीलिए हो सकती है। जहाँ तक इनकी कविताओ का प्रश्न है, वे कविताएँ हैं या नहीं, यह देखना शायद अधिक संगत होगा।

जहाँ तक एलियट की इस परिभाषा का प्रश्न है कि कविता गद्य को अस्त-व्यस्त करके उद्भूत होती है, संसार के अधिकाश पद्य अथवा छदोबद्ध तुकांत पक्तियाँ कविताएँ कहलाने की अधिकारिणी होंगी। किंतु तब एक कठिनता सामने

आएगी। इसका संकेत इथेल मैनिन के रैगेड बैनर्स नामक उपन्यास के एक पात्र के इस विचार मे मिलता है कि पंक्तियाँ अर्थपूर्ण हो—यह क्या बहुत आवश्यक है। यानी उसके विचार से यदि कोई ऐसा कहे, 'रात चाँद सितारे, तुम मेरे प्यारे' तो इसे भी कविता कहना असंगत न होगा। आसंग से पाठक अपने अनुकूल इसका अर्थ अथवा अविशि ग्रहण करे। इस प्रकार के तर्क को काट्य मानना तो चाहिए किंतु इसे काटना सहज भी नही, यह स्पष्ट है। रिडक्शियो ऐबसर्डम के नियम की तरह, यह दृष्टिकोण कविता की मूलभूत प्रकृति पर प्रश्नचिह्न लगाने का साहस करता है। सच पूछिए तो सूररियलिज्म की कविताएँ इसी आसंग आधार पर बहुत बल देती रही हैं। प्रपद्यवादियो ने भी द्वादशसूत्री मे, सूत्र रूप मे जो कहा है उसके भाष्य मे यह बात उठायी गयी है और मुक्त आसंग को समुचित स्थान दिया गया है।

किंतु यह सब वाद-विवाद क्या प्रश्न को यहाँ नही ला रखता कि काव्य मे शब्दों के अर्थ से जो अर्थ और भाव का निर्माण होता है, उतना ही भर नही होता ? वस्तुत क्या कविता वहाँ से शुरू नही होती जहाँ लिखित कविता की अंतिम पंक्ति का अंतिम शब्द खत्म होता है ? इसे इस प्रकार भी रखें कि जो कुछ लिखित है वह एक अनुभूति का प्रारूप है जिसे पाठक अपने आसंगो के आलोक मे देखा और अनुभव करता है ? तब क्या साधारणीकरण तथा प्रेषणीयता का प्रश्न असंगत नही ? क्या प्रत्येक कविता प्रत्येक पाठक के लिए उसकी निजी नही हो जाती ? इस प्रकार, काव्य मे साधारणीकरण की अपेक्षा वैयक्तीकरण ही अधिक नही होता ?

वैयक्तीकरण का जहाँ तक प्रश्न है, वह पाठक तक ही सीमित नही; कवि भी उसमे सम्मिलित है। प्रत्येक कवि की रचना उसकी बड़ी निजी चीज होती है, इसकी अनदेखी नही की जा सकती। इस मानी मे कभी-कभी कवि को निजी शब्द विन्यास (personal phrasing) करने की आवश्यकता भी आ पड़ती है, पड सकती है।

उपर्युक्त को ध्यान मे रखते हुए यह भी कह लूँ कि इसे स्वीकार करना, न करना उतना महत्व नही रखता जितना कि ये कुछ बड़े मौलिक प्रश्नो को उठाते हैं।

* वैयक्तिक अनुभूति को सार्वजनिक भाषा मे अभिव्यक्त करना
* परंपरागत प्रतीको, उपमा-उपमानो आदि का उपयोग।
* भाषा के जाल का उपयोग करते हुए भी उस trap से मुक्ति पाना, निकल सकना।
* छद का व्यवहार करते हुए भी स्वच्छद हो सकना।
* छद के सहारे अनुभूति को काव्य-रूप मे crystalize कर सकना, आदि।

यदि आज की हिंदी कविताओं को देखा जाए तो उन्हें नयी इसी मानो मे मानना होगा कि अन्य युग के कवियो ने जहाँ परंपरा को स्वीकार किया है, आज का कवि युग और जाति-चेतना तथा उसकी अभिव्यक्ति की परंपरा मे रहकर भी उसे अस्वीकार करता जाता है। लेकिन वह कोई नयी परपरा नही वना रहा। आती हुई को ही नये आसग दे रहा है, और नये तथा वैयक्तिक आसगो मे उसे देख रहा है।

जहाँ तक ऊपर कही गयी वात का सवध है, काव्य मात्र के लिए सही दृष्टिकोण, कुछ अंशो मे अवश्यभावी भी, यही हो सकता है। इसके पालन के लिए नवीन उपमाओ के प्रयोग की आवश्यकता पड़ सकती है किंतु वे साधन होगी, साध्य नही। इसके विपरीत नयी पीढी के ऐसे कवि भी हैं जिन्हे नवीनता मात्र ही उद्देश्य अथवा साध्य लगता है।

शरद देवडा और श्याम सुंदर घोष, दो ऐसे उदाहरण हैं जिनमे ऊपर कही गयी अधिकांश वातो का application दीखता है।

शरद देवडा जहाँ वहुत ही नये शब्दो अथवा चित्रो अथवा उपमाओ या विशेषणो का सहारा लेते हैं, श्याम सुंदर घोष अभी भी चाँद, हवा, वसत, कोयल आदि के प्रतीको का उपयोग करते हैं। यदि 'टीवें' और 'पीलिया' देवडा के लिए आवश्यक हैं तो पुराने प्रतीक श्याम सुंदर घोष के लिए भी। फिर भी, एक परपरा को अस्वीकार कर तथा दूसरा उससे नियोग कर जो कुछ लिखता है, उसमे नवीनता है और वह आसंगो मे है।

शरद देवडा

पाँच बजने से पाँच मिनट पहले

भूल जाओ
कभी तुम सुन्दर थी !
इन फटे पपडाये अधरो पर कभी रस-
छलक-छलक पडता था !
जुल्फो की काली घटाओ पर मन-मयूर-
थिरक-थिरक उठता था !
कभी इन नयनो की श्याम गहराई मे-
डूबा—उतराया था !
उभरे वक्षो पर धडकनों की थपकियाँ दें-
तुमने सुलाया था !
वह सब भूल जाओ !
मेरे सरस गीतो की कभी तुम प्रेरणा थी,
अब मत याद करो !
बीता, सो भूल जाओ,
अब मत याद करो !

अब हो तुम—
पतझर की धरा-सी उजाड
साँझ-सी वीरान
बासी ककडी-सी अलसायी ,
अब तुम ढल चुकी ,
अब तुम चार-चार बच्चों की माँ हो ,
अब तुम ..
लो, सुनो—
रसोई मे गदबदाती दाल तुम्हे बुला रही,
आँगन मे चिचियाती मुन्नी पुकार रही,
जाओ भी,
कुर्सी के पीछे से ऊपर लदो ना यो ,
जी मिचलाता है,
गंध आती है,
आटे—
पसीने की !
जाओ भी !

तुम चाहे ढल चुकी
स्थितियाँ बदल चुकी
पर मेरे अरमान अब भी जवान हैं !
अब मुझे कल्पना मे डूब-डूब जाने दो,
अब मुझे गीतो मे एक दर्द लाने दो,
अब मुझे

ओह ! फिर वही
कहा तो सटो ना
तुम्हारे 'वो' आते होंगे
अब तो टलो !

*

जो कभी आबाद था

पत्थर के ढोंके रहे शेष,
भग्नावशेष !

टेढे मेढे बदरंग ढोंके
धूप और वर्षा के तीव्र प्रहारो से
बेढंगे होके,
नीचे जिनके
किलबिल करते

हैं खोज रहे भोजन अपना बेदम होते
ये क्षुद्र कीट जो हैं अनेक,
जीवन के केवल यही चिह्न हैं रहे शेष !
भग्नावशेष !

सूखी सरिता के ऊपर
कुछ दूर अधर मे
तीखे तीरो से सूरज के बेहाल
वह गिरी . गिरी.. अब गिरी
चील एक ;

सुदूर क्षितिज की छाती को चीरे
है रेंग रही धीरे-धीरे
रेल एक,
हलचल के केवल यही चिह्न हैं रहे शेष !
भग्नावशेष !

९

राजस्थानी गाँव : सुबह

बन्द रह रात भर रेफ्रीजरेटर मे
ठण्ड मे सिकुड अब उकडूँ बैठे-से
पीले-पीले पीलिया के रोगी-ज्यो
दूर तक केवल टीबे-ही-टीबे
, बालू के टीबे !

सुदूर एक टीबे पर
घुटे हुए सर की खडी हुई चोटी-सा
नीम का पत्रहीन एकाकी दरख्त
ठहरा-सा जिसके पीछे
लकवे का मारा वह निस्पन्द, निस्तेज
सूरज का गोला !

बन्द कमरे की गरमायी फिजा मे
गठरी-सा गुडमुड मे
दुबका रजाई मे सुन रहा
खिडकी की संकरी दरारो से आती
नल पर झगडती औरतों की चखचख !

चबूतरे की पीले पराग-सी धूप मे
ठण्ड से ठिठुरते
रक्तहीन, नीले, नन्हे हाथो मे
कुत्ते के रिरियाते पिल्लो को थामे
सटाये छाती से
न्यूमोनिया के रोगी-से थरथर काँपते
खडे हैं मोहल्ले के कच्चे-बच्चे !

सीली लकड़ियो को फूँकती घरवाली
रसोई के कडुए धुएँ से खीझकर
आँखो के पानी को पल्ले से पोछती
नीम-सी कडवी वाणी मे चीख पडी
"ए जी, उट्ठो भी
ऊपर से साढ़े आठ बजा
अब उट्ठो भी।"

९

हाथी-दाँत की मीनार मे

दिन-भर काम किया, शाम को
थक कर,

ऊब कर,
कार मे बैठकर घर लौट आये।
निढाल-से पसर गये सोफे पर,
नेत्र बद,
सोचते—
"ओफिस का रोब-दाब,
कोलाहल,
कितना निरर्थक,
कितना ऊब-भरा !
दुलहन-सा सजा हुआ ड्राइग-रूम,
मौत सा जड, शान्त !
सब-कुछ उखडा-उखडा,
जीवन है कितना बेमानी, उफ !
कितना बेमानी ! कितना बेमानी !"

करवट ली, उठ बैठे, हाथ बढा, देखा–
कविताएँ !
कुछ पढ़ी, रस आया, और पढी,
खिला मन, उड गयी थकावट कपूर-सी।
नवस्फूर्ति,
नवजीवन,
नवोल्लास !
पुलकाकुल बोल उठे "वाह,
वाकई कविताएँ अच्छी हैं !"

तभी,
याद आये कवि जी
ताड मे लंबे,
बेंत-से दुबले,
बिखरे बाल, पिचके गाल, क्लान्त,
भटकते होंगे वही चौरगी के फुटपाथो
पर,
या कि काफी-हाउस मे सतृष्ण नयनो
से कपो को ताकते
खाली पाकेट,
दोस्तो की प्रतीक्षा मे—
"दबा कुचला, निरीह कवि !
ओह, कितना निरीह कवि !"
झटके-से उठते विचारो को पीछे ठेल,
बोल उठे बाबू साहब—
"उँह, हमे क्या कवि से ?
हाँ वाकई, कविताए अच्छी हैं !"

*

लीकें, प्लेटफार्म और फर्श

लहराती गाती टहनियाँ,
चहचहाते बसेरे,
महकते फूलो को साथ ले—
आँधी तो चली गयी,
धरा पर असहाय ठूँठ-सा मैं पडा हूँ !

घटियो की टुनटुन,
पहियो की चूँ-चाहट,
गीत की लहरदार तान को साथ ले—
गाडी तो चली गयी,
निर्जीव, मूक लीक-सा मैं पडा हूँ।

हलचल, कोलाहल, जीवन समेट कर
रेल तो चली गयी,
दो-चार घुघुआती, टिमटिमाती लालटेनें
सीने पर उठाये—

नीरव, उजाड प्लेटफार्म-सा मैं पडा हूँ !

दीवाने चले गये,
साज सब मौन,
अलस, शिथिल कदमो से गायिका भी
वह चली,
और अब
सीने में बीती यादों का दर्द ले—
महफिल के सूने फर्श-सा मैं पडा हूँ !

प्राण तो चले गये
निष्पन्द, जड देह-सा मैं पडा हूँ ।

गम हैं ज़माने मे

रेशम-से चिकने,
बरसात की घटाओं-से
काले केशो को,
चाँदनी-से
मुखडे पर छितराये,
रस से छलकते
अधरो पर
मृदु फडकन
आमन्त्रण देती-सी,
अपने मे सिमटी—
छुईमुई-सी,
जब तुम मेरी आँखो मे बैठी रहती हो,
तुम जब मेरी साँसो मे छायी रहती हो,
मै डूब नही पाता
तब भी—
मैं भूल नही पाता

तब भी !

हाँ तब भी :
जीवन के कष्ट
अभाव
बॉस की चिर खिचखिच,
भारी-भरकम लेजरो
फाइलो,
बदरंग कागजो के ऊँचे अबारो मे,
उभडते मनहूस टिड्डी दलो-से
किलबिलाते कीडों-से
टूटी टाँगो की चीटियो-से
रेंगते—
अको
अक्षरो को !

उनकी बेमज़ा याद
किसी भारी शिला-सी
हरदम
हर पल
दिमाग पर पडी ही रहती है,
रह-रह कर
दिल की गहराइयो को छू-छू आती है,
मन न जाने कैसा-कैसा हो उठता है ।

और
तब खोया-सा,
कोने मे मकडी के जाले को ताकता.
अनजाने
हौले से
गुनगुना उठता हूँ

"और भी गम है जमाने मे मुहब्बत के सिवा . ।"

*

बदलती तस्वीरे

चित्र महान् !
भावो की यह सूक्ष्मदर्शिता
रेखाएँ सप्राण !
एक पार्श्व मे .
किलकारी का तरल स्रोत
मधु ओत-प्रोत
यह शिशु अम्लान !
चित्र महान !!
और दूसरा
यौवन के कद से मदमाता, झुलसाता,
मध्यग्रीष्म के तीव्र ताप-सा
बांका जवान !
चित्र महान !!
किन्तु तीसरा .
पतझड के पीले-पत्ते-सा पीतवर्ण
है जरा-जीर्ण,
जीवन-पथ का यह थका पथिक
पाथेयहीन,
वृद्ध म्लान !
चित्र महान !!

*

श्याम सुन्दर घोष

अथ और इति

तुम और मैं
दोनो एक थे, कोई अतर नही था,
कौन कहता है कि स्वर नही था ?
षड्ज, मध्यम, तार सब कुछ थे,
ओस, किरन, चाँद, बहार सब कुछ थे,
गुलमुहर के फूल हँसते थे, खिलते थे,
हवा के झोको से धीरे से हिलते थे,
मन-से-मन चाँद-चाँदनी-सा मिला था,
सपनो को किसी से न गिला था ।
लेकिन कब, किस क्षण
हुई कौन बात,
दिन हुआ पहाड नही कटता है काटे-
जहर हुई रात,
सोनजुही फीकी हुई, गुलमुहर उदास,
अनचीन्ही लगती है अपनी हर साँस ।
मन तब से बादल-सा विह्वल बेचैन,
भटक रहा, नागन बन हँसती है रैन ।
वशी के रंध्रों से स्वन कितनी दूर ?
सपने बेचारे भी कितने मजबूर !

*

उर्वशी और शाम

आज की शाम
उर्वशी बन आयी मुझे मोह गयी ।

गुलदस्ते फूल की अनुरक्त पखुरियाँ
हौले से टूटी, फर्श पर बिखर गयी ।
सौरभ-श्लथ प्राणो की मादन गिरि-
कन्दराएँ
साँसो से गु जित कर सौरभ से भर गयी ।
मन की यह तृपा तरगिनी है,

ओ री तन्वंगियो !
मुझे इसकी बहती हुई लहरो पर डाल
दो ।
मन मेरा अपने से रूठा, पराया हुआ,
इसको समझाओ जरा
आँचल से हल्की-सी हवा करो, झटका
दो ।
ऊपर उछाल दो ।

प्राणो की उच्छल तरगों को बाँधो
नही,
शिला आवर्तों से गूँज घहराने दो
पंकज कन्याओ के मोती गुँथे जूडे के
बुद-बुद के फूलो पर
मन के उत्तप्त आवेग छितराने दो ।

*

प्रतीक्षा के बाद

कोलतार पुती हुई सड़कें
आसमान सूना,
धुला हुआ पाजामा
ख़बरदार ! इसे नहीं छूना ।

खडे-खडे रहने से
पाँव लगे दुखने,
पीडित किया बडा ही
प्रतीक्षा के सुख ने,
मन को बडा तोष है
तुम नही आयी,
भला हो तेरा
ओ री जम्हाई !

स्थिति-बोध

होठों की अछूती सिहरन को
जानना पहचानना आसान नहीं,
मन मे जो कुछ है,
जाता है उस ओर किसी का भी ध्यान
नहीं ।
सपने कुँवारे हैं वर्षों से,
शहनाई की धुन की
कीमत हजार लाख ...... उससे भी
ज्यादा है ।
जिन्दगी की शतरंज . वजीर तो पिट
गया
बाकी बचा हतवीर्य प्यादा है ।
लू है, पछुवा भी चलती है
छाँह कहाँ जिसमे विश्राम किया जाए ?
मन का मुसाफिर है गर्मी से परीशान
ऐसे मे तुम्ही कहो कौन गीत गाए ?

*

स्मृति-प्लावन

मन की अमराई मे
याद के टिकोरे लगे,
धरती की सूखी दरारो मे
वर्षा की सरस स्निग्ध बूँद चू गयी ।
सुधियो की हवा बैरिन
अनजाने आ गात छू गयी
सद्य जात बछड़े-सी मन की उमंगो को
कौन समझाए ?
ऐसा कुछ होता है तुम यदि मिलो,
बडी प्यास है

आँखों-आँखो मे पी जाऊ,
हरी-भरी-कटी-छटी दूबो पर
लेट, फूल कलियो के साथ गुनगुनाऊँ।
माथे पर वेला की फूली हुई
डाल झुके, लटें चूम जाए।

आदमी (१)

आदमी-अँधेरा,
दोनो ही साथ-साथ जनमे,
कितनी ही वातें दोनो के मन मे ?
किन्तु उन्हें कौन जान पाता ?
आदमी अँधेरे का वडा अजव नाता !

रोशनी मे आदमी को
झिझक वडी होती,
सोचता है क्या पहने
पेंट या धोती ?
रोशनी मे सभल-सभल चला
वात नही वनती,
लाज-शरम, विधि-निषेध
शिरा-शिरा तनती।

अँधियारा रूई सा-नरम
नाजुक मृदु हल्का।
आदमी अधेरे से मिला नही
प्याले-सा छलका।

वीमार सपने

महीनों से सपने वीमार है
दवा नहीं,
कोठरी है छोटी-सी सील भरी-सँकरी
हवा नही।
दिन मे बाहर निकलने पर
यहाँ-वहाँ धूल, धूप, धुआँ।
शाम मे—मुसीबत है
सामने ही औंधा एक कुँआ।
दोस्तो ने कहा है
डाक्टरी मुआयना निहायत जरूरी है।
लेकिन यह धूल, धूप, धुँआ,
सामने यह औंधा-सा कुँआ
अजीव मजबूरी है।

इकाइयों का वक्तव्य

हम महाशून्य के प्रगाढ़ अन्तराल मे
तरगित,
एक दूसरे से विच्छिन्न
दो इकाइयां हैं।

पवन का आकस्मिक सघात हमे
सश्लिष्ट करता है,
क्षण के सयोजन के पश्चात् तोडता
रूई के फाहे सा दूर उडा देता है।
सर्जक नही हैं हम, सृजन के उपकरण
तो हैं,
आकस्मिक सघातो के प्रति निवेदित है,
जो हमे वांधते, सश्लिष्ट करते
नयी-नयी भूमिकाओं मे अवतरित होने
हेतु

बाध्य करते
क्षण का बोध दे
निर्मम त्वरा से विलग कर मुक्त कर देते।

मिलन के विरल क्षणों मे हम रुद्ध होगी
नहीं,
चुकते नही वियोग के भारवाही क्षणो
मे,
तटस्थ संतति की क्रियाएं देखते हैं,
पितर होने का दावा नहीं करते।

❀

चिंता

किरन सयानी हुई कौन इसे व्याहे?
सूरज से कहो वह पिता है
सागर की गहराई थाहे।
आग को हथेली पर लेकर के परखे
अन्धड का पौरुष-बल जांचे।

कन्या सयानी हुई
व्याह तो होगा ही
सौरभ को दूत बना चारो ओर भेजो,
किरन जवान हुई, ओ री दिशाओ!
विनती है इसके दूल्हा एक खोजो।

❀

फाल्गुनी प्रश्न

फागुन के दिन
तबीयत यो ही उदास बहुत रहती है,
शोख हवा कानो मे आकर के
हरदम कुछ कहती है।

पढने मे मन नही लगता है,
कमरे-बरामदे मे
फूलों की मदिर गंध तिरती है।
मन का मृग भाग रहा ......
सुधि की अहेरिन यह
फूलों के बाण लिये फिरती है।

फागुन की ठुनकी मे
साधो का जलतरंग बजता है।
ऐसे मे तुम्ही कहो क्या कोई
अपना अविभाज्य अंश तजता है!

हरिनारायण व्यास

डाइमेंशन

अनुमानों की दूरी के उस पार
निकल जाना मुश्किल है।
यह ऊँचाई निराकार है
अंतहीन है, बेदिल है।
खड़ी चिमनियाँ गगन चूमने
निज पत्थर के अधर उठाये
शायद नभ-सी यह ऊँचाई
इन्हें चूमने नीचे आए।
कच्ची-पक्की, सँकरी-चौड़ी
सड़कें, काली-भूरी-गोरी
अनुमानो के अँधियारे में धरती
छोड़ भटकती फिरती
शुक्र, चद्रमा, मगल ग्रह पर।
युग के घोड़े इन सड़को पर
कान उठाकर सरपट दौड़े
पर लंबाई लाँघ न पाये
थके हुए इन घुड़दौड़ो से
फिर से इस धरती पर आये।
गोलाई की यह लम्बाई
बढ़ती है
बढ़ती जाती है।
गहराई को देख नही पाते हैं हम
बैठे भूमि पर ऊँचाई के
गीत सदा गाते हैं हम।
गहराई पर टिकी हुई है
दृष्टि-पीठिका-धरा, हमारी
जिसे भूलकर, लंबे-ऊँचे अनुमानो की
मजिल सदा बनाते हैं हम।
पाप-पक मे गड़ी हुई यह
पावो के नीचे की धरती
कहीं भ्रमण मे खिसक न जाए
इसीलिए ग्रह-नक्षत्रो के
आकर्षण के हर जंक्शन पर
उपग्रह नये बसाते हैं हम।
वेधशालाएँ खुली हैं
गिर रहा है बिंब नभ का
देह की दीवार पर।
दिख रहे हैं नाशकारी घूमनेवाले
गगन के पिंड
अपने मार्ग के आकार पर।
वेधशाला में बिजलियाँ कौंधती
हैं बौंथरी
मूढ़ जड हैं, यंत्र सारे
चल रहे दो तार पर।
भीतरी तम जो घिरा है
आदि दिन से
और गहरा हो रहा है।
आज युग के सत्य की टाँगें
टिकी हैं
स्वार्थ के अनुमान के आकार पर।

बादल की धूमिल छायाएँ बिचर
रही हैं
आसमान मे।
अधकार के कोटि नयन मे धुआँ
घुसा है।

दृष्टिहीन के अतस्तल-सा
ज्योतिहीन नभ निरख रहा है।
सूना-सूना संवेदन।
उडती-फिरती तितली ने भी लगा
लिये हैं
पंख, फूल की पंखुडियों के।
किंतु हत।
यह यह अंधकार सारे रंगों को
पी जाता है
सुरा समझ कर
गंध-कोष की सीमाओं से मुक्त
विचरती वन उपवन में
नवकुमारिका कन्या-जैसी,
जिसे देह की मान-भ्रांति में
भटकाता है इधर-उधर।
नभ निरभ्र हो और
सितारे तिनकों-से उडते-गिरते हों।
तब अपार के पार पहुँचना
अधिक कठिन हो जाता है।
मन बेचारा लंबाई में,
मन बेचारा ऊँचाई में,
मन बेचारा गहराई में
खडा हुआ उल्टा त्रिशंकु-सा
अनजाने आकाश-बिंदु के
अतस्तल-सा
वैसा का वैसा
जैसा था
कोरा, आदिम
चिर तम वासी।
संगीनों की ध्वजा उठाये नाच रही
हड्डी की पुतली
लिए सत्य का पुत्र
गर्भ में
जिसको मन की ह
जिसमें अगली सृष्टि नह

*

कायाकल्प

शिशिर का और उसके
कोई दोष नहीं।
यह तो रात्रि के गहन ग
झकोरों के थप्पड़ों से
और वृक्षों की नव परिध
की आकांक्षा से
पत्तों का संबंध
जड से छूट गया
और वे टूटकर
गिर गये।
झर गये।
शिशिर तो वसंत का
निमित्त बनकर आया था।
किसी पुराने युनानी बादशाह के
लबादे की तरह
उसके इन
तूफान के झपेटो मे
फहराते हुए उत्तरीय से—
वृक्षो के माथे की बुढ़ापे
की सिलवटें मिट गयी।
मन में संकल्पों के

जमघट मे से
अनेक चिल्ला पडे कि
हम आज मन का मुँह
उजला बना देंगे
शरद की, चांदनी के
स्निग्ध जल मे
धोकर
हरसिंगार की कमनीय कांति से
हम मन को सजो देंगे।
हम उसके भीतर सुलगनेवाली
आग की लपटो को चूमकर
ठंडा बना देंगे।
और उसको नये वसंत के
स्वागत मे सिर पर मुकुट
बांध कर खडे हुए
पाटल के साथ-साथ
खडा कर देंगे।
और संकल्पो
के इस आश्वासन से
जो भी पहले से जाग रहे थे
उन पहरुओ को नीद आ गयी
और वे गिर गये। बूढे पत्ते झर गये।
शिशिर का दोष केवल इतना ही है कि
फलो के गर्भ मे पकनेवाले
बीज को उसने छूकर रोमांचित
कर दिया।

जिससे वृक्षो की
आगामी पीढ़ियों का भविष्य
कायाकल्प की कामना
और शिशिर की कृतज्ञता से
जन्म जन्मान्तर के लिए भर गया।

मदन वात्स्यायन

रंभा

(वर्षा ऋतु के अधिकमास की पूर्णिमा का चाँद)

थे हरारत से फुंकरते मरुत को रस्सी बना कर
देव अब भी मथ रहे नभ-सिंधु बारह रत्न पाकर,
फेन से आकुल-मुखी क्षोभित तरंगे टूटती थीं,
—बस कि एकाएक प्रकटी नयन-सुख रंभा' सुधा कर!

बस अभी बदली घिरी, झड लग गयी, अँधियार आया,
लीजिए, फिर तुरत ही हँसता धुला रुखसार आया!

यह अनूठी मोहनी बाजार मे यो फिर रही है—
गोद मे बच्चा हरिण का, नाइलन से खुली काया।

सरस शीतल, परस कोमल, एक मुट्ठी की, नयी है,
तपन ने छूई नही ऐसी अछूती ताजगी है।

कन्यके, कब से तुम्हारे रूप के शर वारता हूँ,
चिर-विकल दनु-पुत्र तेरा अ-मल लोक निहारता हूँ।
ओ सुधा-स्तन,[२] दानवी विज्ञान के हो हाथ, पर ये
विजित होने को पुरुष मैं "अरुण बान" प्रहारता हूँ।

*

नया साल

सुस्त यह नव साल आया नौकरी की जिंदगी मे,
पा के भी पाया न मानो, रह गया उठ जी का जी मे।
डाक मे आयी हो जैसे मेरे रुपयो की रसीद,
कट के 'ड्यू' में रह गया बोनस बही का बम बही मे।

है छुहारे-सी मुबारक एक फौर्मल सी 'मिठास'
सीले बिस्कुट-सी मुबारक एक सीला सा हुलास।
छीमियाँ दाना-रहित-सा साल पिछला दुबक गुजरा,
और सूखे सन्तरे-सा यह नया आया है पास।
फट गया हो तला जिसका वह सजीली टोकरी है।
छूटती भी नही तीखी मिर्च-सी यह नौकरी है।

मगर लकवाग्रस्त अंगो मे सिहर संचार आया—
जियो मेरी आयु लेकर ओ सुधा-कर, स्नेह-काया,
ओ स्वकीया, रूढि ओ, ओ परम्परा, ओ गद्य, ओ 'माँ',
आयु मेरी बढ गयी शुभ कामना का तार पाया।

१—रंभा—वह अप्सरा, वेश्या, केला, उत्तर दिशा (गंगा प्रदेश आदि में जहाँ सूर्य नही जाता)

२—'उषा' पक्ष मे — Plenty को सुलभ कर विज्ञान वेदना के अधीन हो जाएगा, यह स्थापना है। कामधेनु।

सिद्धनाथ कुमार

दो कविताएँ

[एक]

रेडियो ट्यून करता हूँ !
सुई ठीक विंदु पर धरता हूँ !
और,
लंदन, मास्को, दिल्ली, पटना—
देशी-विदेशी स्टेशनों के
प्रोग्राम सुनता हूँ।
ईथर के बाग से
स्वर और शब्द के
रंग-बिरंगे फूल चुनता हूँ !
काश,
तुम्हारी भावना की
वेवलेंग्थ भी मैं जानता !
स्नेह के गीत सुनानेवाले
मनचाहे तार को भी पहचानता !

[दो]

जग मे याद चली आती है,
इसलिए मैं नही शर्मिन्दा हूँ।
उसी की ढाल पर महता मुश्किल,
तभी तो आज भी मैं जिंदा हूँ।

अजित कुमार

स्थिति

शब्द सो गये हैं।
और भाव सो गये हैं।
भाव सो गये हैं,
क्योंकि शब्द खो गये है।

भाव
शब्दो के विना भाव नहीं—
मूक क्रंदन हैं,
पीडन हैं, व्याकुलता, रोदन हैं,
अविदित, अव्यक्त अभिनंदन हैं।

हूक, टीस, पीर,
हर्ष आदि बहुत कुछ हैं,
पर
शब्दो के विना भाव, भाव तो नहीं हैं।

अस्तु, शब्द खो गये हैं
तो जान लीजिए कि हम कैसे हो गये हैं!
—निश्चय ही भावहीन,
व्यथाहीन, किन्तु 'नही',
तृषाहीन, किन्तु 'नही';
तृप्त !—'नही' !
—हम हैं मात्र भावहीन !
हमे बस प्रतीक्षा है —
शब्द फिर मिलेंगे
और शब्दो के वृंत पर
भावों के पुष्प फिर खिलेंगे।
और
थिरे हुए जल मे
फिर लहरें उठेंगी।
फिर से पाल हिलेंगे।

वह जो मैंने कहा

मेरा अपना कभी नही था।

जो भी था

वह तुम सबका था।

मैंने यो कह दिया
क्योकि वह मेरा अपना कभी नही था।
मेरा होता तो
मैं सहता,
कभी नही तुमसे या और किसी से
कहता !

मेरा था वह नही !

जो भी था
वह तुम सब का था।
इससे ज्यादा यदि कुछ था
तो हम सब का था।

तुम सब से ज्यादा यदि कुछ था भी
तो
वह हम सबका था !

मेरा अपना ?
नहीं, नही !
मेरा निज का वह कभी नही था !

*

डॉ० प्रभाकर माचवे

एक दृश्य चित्र

सन्नाटा। झींगुर।
गीली हवा ! उर मे डर।
काँपती लालटेन का बिंब।
रात के ग्यारह से भी ऊपर
पार करेंगे कैसे मोटर
दूर रँभाता स्टीमर।
नही पुल।
मार्ग; 'डुल'

*

'उलटो-सूधौं बीज'

रज्जु-सर्प का
'गुण'–'अनत' का
भेद बुलानेवाली प्रज्ञा खेत हुई।
'रत्ना'
इतना
तो बतला दो ! तुलसी-तरणी प्रेत हुई ?
राम-नाम
क्या 'काम'
तुम्हारी रति असत्य थी ? (अरे, सती
अचेत हुई।)
फिर से मेरी आशाएँ, रेत हुई।
झुकी, न टूटी, बेत हुई।

*

अशोक वाजपेयी

ये महज एक खयाल है

ये महज एक खयाल है
कि मैं यहाँ फिर कभी आऊँगा
वैसे कोई बडी बात नही है

सिद्धनाथ कुमार

दो कविताएं

[एक]

रेडियो ट्यून करता हूँ !
सुई ठीक बिंदु पर धरता हूँ !
और,
लंदन, मास्को, दिल्ली, पटना—
देशी-विदेशी स्टेशनो के
प्रोग्राम सुनता हूँ।
ईथर के बाग से
स्वर और शब्द के
रंग-बिरंगे फूल चुनता हूँ !
काश,
तुम्हारी भावना की
वेवलेंग्थ भी मैं जानता !
स्नेह के गीत सुनानेवाले
मनचाहे तार को भी पहचानता !

[दो]

जग मे याद चली आती है,
इसलिए मैं नही शर्मिन्दा हूँ।
इसी की ढाल पर सहता मुश्किल,
तभी तो आज भी मैं जिंदा हूँ।

*

अजित कुमार

स्थिति

शब्द खो गये हैं।
और भाव सो गये हैं।
भाव सो गये हैं
क्योंकि शब्द खो गये हैं।

भाव
शब्दो के बिना भाव नही-
मूक क्रंदन हैं,
पीडन हैं, व्याकुलता, रोदन हैं,
अविदित, अव्यक्त अभिनंदन हैं।

हूक, टीस, पीर,
हर्ष आदि बहुत कुछ हैं,
पर
शब्दो के बिना भाव, भाव तो नही हैं।

अस्तु, शब्द खो गये हैं
तो जान लीजिए कि हम कैसे हो गये हैं !
—निश्चय ही भावहीन,
व्यथाहीन, किन्तु 'नही';
तृषाहीन, किन्तु 'नही';
तृप्त !-'नही' !
—हम हैं मात्र भावहीन !
हमे बस प्रतीक्षा है -
शब्द फिर मिलेंगे
और शब्दो के वृंत पर
भावो के पुष्प फिर खिलेंगे।
और
घिरे हुए जल मे
फिर लहरें उठेंगी।
फिर से पाल हिलेंगे।

वह जो मैंने कहा

मेरा अपना कभी नही था।

जो भी था

वह तुम सबका था।

मैंने यो कह दिया
क्योकि वह मेरा अपना कभी नहीं था।
मेरा होता तो
मैं सहता,
कभी नहीं तुमसे या और किसी से
कहता!

मेरा था वह नही!

जो भी था
वह तुम सब का था।
इससे ज्यादा यदि कुछ था
तो हम सब का था।

तुम सब से ज्यादा यदि कुछ था भी
तो
वह हम सबका था!

मेरा अपना?
नही, नही!
मेरा निज का वह कभी नही था!

*

डॉ० प्रभाकर माचवे

एक दृश्य चित्र

सन्नाटा। झींगुर।
गीली हवा! उर मे डर।
कांपती लालटेन का बिंब।
रात के ग्यारह से भी ऊपर
पार करेंगे कैसे मोटर
दूर रंभाता स्टीमर।
नही पुल।
मार्ग, कूल

*

'उलटो-सूधो बीज'

रज्जु-सर्प का
'गुण'–'अनत' का
भेद बुलानेवाली प्रज्ञा खेत हुई
'रत्ना'
इतना
तो बतला दो! तुलसी-तरणी प्रेत हुई?
राम-नाम
क्या 'काम'
तुम्हारी रति असत्य थी? (अरे, सती
अचेत हुई।)
फिर से मेरी आशाएँ, रेत हुईं।
झुकी, न टूटी, बेत हुईं।

*

अशोक वाजपेयी

ये महज़ एक खयाल हैं

ये महज़ एक खयाल है
कि मैं यहाँ फिर कभी आऊँगा
वैसे कोई बडी बात नहीं है

और यहाँ के बारे मे तो और भी नही
एक लम्बी-सी सडक है
—कोलतार की
और उसके दोनो ओर
पेड़ों की बेढब-सी कतारें हैं
बीच-बीच मे आसमान के नीले टुकडे हैं
और शायद एकाध सफ़ेद बादल भी
वैसे कोई बडी बात नही है
और यहाँ के बारे मे तो और भी नही।

ये महज़ एक खयाल है
कि मैं यहाँ फिर कभी आऊँगा
मैं एक सफर के दौरान यहाँ से गुजर
रहा हूँ
लगता है दूर कही घटे बज रहे हैं
बुलानेवाले नही, लौटानेवाले घटे
जैसे कह रहे हो
जाओ,
गुज़र जाओ
फिर कभी आना
वैसे कोई बड़ी बात नही है
और यहाँ के बारे मे तो और भी नही।

ये महज़ एक खयाल है
कि मैं यहाँ फिर कभी आऊँगा।

नये-छोटे लोग

हम नये-छोटे लोग!
हम चाहे अनदेखे बीत जाएँ
कोई तो देखेगा :
हमारी मुट्ठियो मे गुलमुहर के फूल थे!
हम चाहे अनजाने झर जाएँ
कोई तो जानेगा
हमारे पाँवो से यात्राएँ बँधी थी!
हम चाहे अनचीन्हे मिट जाएँ
कोई तो चीन्हेगा
हमारे होठो पर कविताएँ थी!
हम नये-छोटे लोग—
इतिहास हमे छोड चला जाएगा,
हमने जो कुछ रचा—
मुट्ठी की बालू-सा खिसक नही गया
गुलमुहर के फूल—यात्रा—कविताएँ
बन जिया है!
हम नये-छोटे लोग
मर कर अबे प्रेत बन भटकेंगे नही,
हमे सतोष होगा—
इतिहास ने भले छोड दिया हो
किसी ने देखा है,
जाना है,
चीन्हा है—
हमारे फूल पसीजे नही थे,
हमारी यात्राएँ टूटी नही थी,
हमारी कविताएँ मुरझायी नही थी,
हम सिर्फ नये थे, छोटे थे!

केदार नाथ सिंह

पारदर्शी तुम

पारदर्शी तुम!
तुम्हारे पार से मैं देखता हूँ—

दृश्य के परले सिरे पर
एक छोटी-सी गिलहरी,
एक हिलता पंख,
एक रंगो का टँगा-सा
घोसला-
ऊपर हवा मे,
एक
सबको चीरती-सी
तेज सीटी की तरह उठती-
उभरती राह !

और उसके परे.
उसके छोर पर भी—
दीखता तो है बहुत कुछ
सेतु,
मेले,
रास्ते के बीच छूटे पाँव,
उडती पतगों की कोर,
किंतु उसके परे,
उसके छोर पर भी—
दीखती है वही लबी,
सनसनाती,
वाग्दत्ता दिशाओं के साथ
मुडती,
दौडती,
चढती, उतरती, कौंधती-सी
एक पतली राह !
आगे,
और आगे
और आगे...

*

जीने के लिए कुछ शर्ते

जरूरी है
हम जहाँ हो
वहाँ से दिखता रहे वह झिलमिलाता
क्षितिज
जो केवल हमारा है !
हम बढाएँ हाथ,
तो खुल जाए बाहर रास्ते की ओर
कोई द्वार सहसा !
झुकें,
तो बिलकुल अयाचित
सामने की मेज से
या बगल के आहट भरे आलोक-उत्सुक
दराजो से
एक उत्तर फूटकर
हमको चकित कर जाए !
जरूरी है !

जरूरी है
सोचते-से हम लगे हो काम मे,
पर अतरालो से कभी कोई कबूतर
निकल जाए।
कभी कनखी से अचानक
दूर मदिर-कलश की कुछ लहरियाँ
दिख जाएँ,
जरूरी है !

जरूरी है
सरहदो पर कही हो अनुगूँज
जो अस्तित्व के हर तार से होकर

गुजरती रहे ,
कही हो परछाइयाँ
जिनसे हवा मे
खयालो के कोण बनते रहें,
कही हो संभावना
जो हर थकन के बाद हमको,
बोलने के लिए बातें,
तोडने के लिए तिनके,
बैठने के लिए थोडी-सी जगह दे जाए।
जरूरी है।

*

रवीन्द्र भ्रमर

मेरा अनुगामी आएगा

मुझे पता है
इस पथ से
मैं भी गुजरूँगा,
पग-ध्वनियाँ
इस विजन-प्रात मे
मुखरित होंगी
खो जाएँगी !

मुझे पता है
यह पथ
मुझसे भी छूटेगा,
रज पर अंकित
पद-छापों को
पगली हवा
मिटा डालेगी !

पथ के दोनो ओर खडे
ओ अचल पहरुओ।
भाई तरुओ !!

मुझ अनाम का नाम
किसी नन्ही-सी
पत्ती पर रखना ,
मुझे पता है
पतझर आने से पहले ही
मेरा अनुगामी आएगा।

*

क्षण-दर्शन

काल की धारा
अनत असीम है
पर हम क्षणिक है।
हम क्षणिक हैं
इसलिए
क्षण का
समय के बीच गह लें,
धार मे जितना निहित सुख
उसे पाने को
लहर के साथ बह लें,
सुखी रह ले।

हवा—
हमको साँस दे,
तो गुनगुनाएँ।
गगन कोई गीत दे,
तो खूब गाएँ।

अगर कोई हमे छू दे,
सात रगो का चँदोवा तान लें
खुशियाँ मनाएँ।

काल की धारा वहे
वहती रहे
क्षणो मे वाँध लें
उसके अनत प्रवाह को।

❁

कीर्ति चौधरी

जड़ता

सूरज वेकार मुँडेरो पर चढ जाता है
किरणो का रग
पत्रो-पुष्पो,
पेडो-गुल्मो पर
विखर-विखर रह जाता है।

दोपहर धूप का ज्वार
वहुत हहराता है।
दिन शनै-शनै ढल जाता है
वस, उसी
रोज़ की निरुद्देश्य दिनचर्या को
दुहराता है।

मैं एक वार फिर से
कृतनिश्चय होता हूँ—
कल।
कल।
कल से सव वदलेगा।
पर
कल तो कभी न आता है।

❁

स्थिति

घवडाने पर जँगलो के वाहर हो जाना,
वँगलो, वागो मे विखरी खुशवू को
आँखो से अपनाना।

सूनी सडको पर
निरुद्देश्य चलते जाना. .
वापस आना।

हल्के-फुल्के कामो मे
मन को खो देना,
परिचित समुदायो मे जाकर
खुश हो लेना।

यो हर मालूम तरीके से
जगते प्रश्नो,
सचित चावों,
उद्दाम वेग से उठते भावो-अनुभावो
को विसराना।
'वरसेंगे' ऐसा निश्चित कर जो आते हैं-
उन उमडे जलद-विचारो को
कर खंड-खंड
वस छितराना।

मेरे मन को तुममे शायद कुछ प्रीति नहीं
-वरना ऐसी तो रीति नहीं।
हो समाधान मे रिक्त -
न कोई यो हो जाता तिक्त

कि अपने से ही सब दुर्भाव !
सामने हहराती आँधी
आह ! यह मेरा मन-वहलाव !!

विपिन कुमार अग्रवाल

एक स्थिति

मैं वद चिट्ठी की सभावना-सा
कमरे मे चुप वैठा हूँ ।
मेरे पास भी
इस ससार के हित के लिए
वहुत-से सदेशे हैं,
पर क्या करूँ
गलत जगह आ गया हूँ ।
वाहर अपरिचितों की भीड है,
मैंने ईमानदारी की जो तस्वीर वनायी है
उस पर उदासीनता की काली मोहर
छापने को वह आतुर है ।
लगता है,
मैं वेसमय की मालगाडी-सा
उस सिगनल के नीचे से गुजर गया हूँ
जो दस वजे वाली गाडी की प्रतीक्षा मे
डाउन था !

विदेश में

भरे जगमगाते हॉल मे
काला कोट और पतलून ओढे
मैं खडा था
अजव-सा
सोचता—करूँ क्या
अपनी वाँहो और टाँगो का ?

हारा-थका उन्हे ले
कुर्सी पर जा वैठा
एक कोने मे,
पर वाँहे और टाँगें
एक वूढे दैत्य के पजे-सी
अव भी वाहर निकली थी
और उन पर टिकी थी
हजारो आँखें वैसी ही !

तव मुझे अपना देश याद आया
जहाँ हम जमीन पर वैठते थे
टाँगें तथा वाँहे —लिपटी
और अपने पास रहती थी !

केदारनाथ अग्रवाल

मैं और तुम

रेत मे हूँ, जमुन-जल तुम !
मुझे तुमने
    हृदयतल से ढँक लिया है,
और अपना कर लिया;
अव मुझे
    क्या रात ?—क्या दिन ?—
    क्या प्रलय ?-क्या पुनर्जीवन ?

रेत मे हूँ, जमुन-जल तुम !
मुझे रस से

सरस तुमने कर दिया है ;
भेंट दुख-दव हर लिया है,
अब मुझे
क्या शोक ?-क्या दुख ?
मिल रहा है अब सदा सुख !

बहुत प्यार है

वह चिड़िया जो चोच मार कर,
चढ़ी नदी का दिल टटोल कर,
जल का मोती ले जाती है—
वह छोटी गरबीली चिड़िया
नीले पखो वाली——मैं हूँ,
मुझे नदी से बहुत प्यार है।

मधुकर गंगाधर

नाच

हे सुदर्शनी मर्कटी !
तेरी यह चुनरी
घुँघरू और सलेवार
बहुत-बहुत मजेदार !
और तेरा नाच ?
सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ !

वैसे, मेरी पत्नी भी नाचती है
क्लियोपेट्रा, कमल-भौंरा;
मणिपुरी, कथाकली ;
किन्तु तेरा नाच
उससे भी अच्छा है।

तुम्हे नचानेवाला
नाच बेच रोटी खाता है ,
पत्नी का नाच सदा
रोटी बेच देखता हूँ।
तेरा नाच सांच
मेरी पत्नी का कांच है।

तेरा पार्टनर सदा एक
डोरी सदा पति के हाथो,
और मेरी पत्नी का ?
मर्कटी ! वह मानवी है
उसके पास स्वाद और स्वतंत्रता है
नाच का अर्थ—
मधुरतम आयासित निर्बन्ध गति...
वह जानती है।

न्याय

कबूतर उड़ाने वाली नायिका
उड़ गयी युद्ध-वीर के साथ
न्यायाधीश बैठा है
बायाँ हाथ सीने पर
दायाँ सर पर धर ,
न्याय की घंटी पर
मकड़े की जाली है।

डॉ० देवराज

आधुनिक हिन्दी साहित्य की चिन्तन-भूमि

साहित्य मे मुख्यत तीन तत्त्वो का आकलन रहता है सौन्दर्य-बोध, नीतिबोध और जीवन-विवेक का। प्रथम दो बोधो मे बराबर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है, साहित्य मे नैतिक तत्त्व प्राय व्यक्तित्व के सौन्दर्य के उपकरण-रूप मे चित्रित होते हैं। जीवन-विवेक से मतलब है, विभिन्न मूल्यो के आपेक्षिक महत्त्व की चेतना। ये सब बोध या चेतनाएं जीवन के यथार्थ की, जिसमे मनुष्य का ऐतिहासिक यथार्थ समावेशित है, विस्तृत जानकारी की अपेक्षा करती है।

समृद्ध बोध अथवा चिन्तनात्मक समृद्धि कला को दो तरह प्रभावित करती है (१) कलाकार की दृष्टि को सूक्ष्मता और विस्तार देकर। बडा कलाकार प्राय एक जीवन-स्थिति मे साधारण लोगो और लेखको से कही अधिक देखता है, वह उसे जीवन के अनेक पक्षो और प्रश्नो से सबद्ध कर देता है। क्लासिक उदाहरण प्रूस्त के, और टॉल्स्टॉय के भी, उपन्यास। (२) लेखक की रचना मे सम्बद्धता अथवा एकता लाकर, जिससे रचना मे शक्ति और स्थायित्व आता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की चिन्तन-भूमि अपरिपक्व रही है, और है। फलत उसमे उक्त गुणो की कमी या अभाव है। दूसरा तथ्य यह है कि यह चिन्तन-भूमि निरन्तर अधिक ऊँची, और शायद समृद्ध, होती जा रही है—आज के लेखको का औसत बौद्धिक स्तर छायावाद-युग से ऊँचा है; वैसे ही छायावाद-युग का स्तर द्विवेदी-युग से उच्चतर था।

आज हमे 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' का बौद्धिक स्तर निश्चित रूप मे खलता है। 'कामायनी' के बारे मे अभी उतना व्यक्त असन्तोष नही है,

पर शायद, विचारशील पाठकों के बीच, अब उसकी दार्शनिकता का वैसा आतंक नहीं है जैसा पन्द्रह वर्ष पूर्व था।

बौद्धिक दृष्टि से प्रयोगवादी युग निश्चय ही छायावाद-युग से आगे है। किन्तु विश्व-साहित्य के बौद्धिक स्तर से (हम यहाँ कृतित्व की बात नहीं, बौद्धिक समझ और रुचि की बात कर रहे हैं) अभी हम काफी पीछे हैं। अभी हमारे समझदार पाठक भी ठोस, गहरी, जिम्मेदार, परिपक्व चिन्तनात्मकता और केवल चकाचौंध पैदा करनेवाली, सतही, पदों और पद-समूहों में अनुस्यूत, फुटकल (Miscellaneous) बौद्धिक दीप्ति में अन्तर नहीं कर पाते। अभी हम में विशुद्ध रूप में निषेधात्मक, धुरीहीन, वाहवाही की लालसा रखने वाली, पिछले अनुकरणात्मक रूप में विद्रोही बौद्धिकता, और गंभीर, मननात्मक, क्रान्तिकारी, एकनिष्ठ मनोवृत्ति और उसके उपयुक्त विचारप्रवणता में विवेक करने की क्षमता उत्पन्न नहीं हो सकी है।

हिन्दी के समझदार और जागरूक समीक्षक भी प्रायः अपने युग की सीमाओं के ऊपर नहीं उठ पाते। यह बात छायावाद-युग के सहानुभूतिशील समीक्षकों पर जैसे आज लागू जान पड़ती है, वैसे ही प्रयोगवाद-युग के सहानुभूतिशील समीक्षकों पर, दस वर्ष बाद लागू होती दिखाई देगी। उदाहरण के लिए 'अज्ञेय' के उपन्यासों में पुष्ट, लेखक की जीवनव्यापी रचनात्मक मनन-साधना द्वारा प्राप्त, वैचारिक एकसूत्रता का—'सार्थक जीवन-दृष्टि' का—अभाव, जो शतशः उद्धरणों से भी पूर्ति नहीं पाता, बहुत कम हिन्दी पाठकों को दिखाई दे पाता है। हमारे पाठकों की इस कोटि की कमी उस दूरी का संकेत देती है जो वर्त्तमान हिन्दी साहित्य और विश्वसाहित्य के धरातलों के बीच है। इस प्रकार की कमी मुख्यतः दो रूपों में व्यक्त होती है, मूल्यांकन के विभिन्न पैमानों पर गलत गौरव देने में, और लेखक से, गलत अनुपात में, कुछ चीजों की कम और कुछ की अधिक माँग करने में। ऐसी स्थिति किसी साहित्य में सचमुच बड़ी कृतियाँ प्रस्तुत की जाने में बाधक हो जाती है।

प्रयोगवाद के अन्यतम जन्मदाता टी० एस० इलियट ने अपने (युग) और परम्परा के सम्बन्ध को जिस गहरी दृष्टि से देखने-समझने का प्रयत्न किया है उसकी सार्थकता की चेतना हिन्दी में अपवाद-रूप में ही दिखाई दे सकती है।

नलिनविलोचन शर्मा

'वाक्' के तीन कवि : पराजित या आहत ?

सच्चिदानद वात्स्यायन द्वारा सपादित अंगरेजी अंर्ध मासिक 'वाक्' के दूसरे अंक मे तीन कवियो की कविताएं प्रकाशित हैं। सामान्य शीर्षक है 'सॉंग्स आव ए डिफीटेड जेनरेशन' —'हारी हुई पीढी के गीत'। कवि हैं 'अज्ञेय', विजयदेव नारायण साही तथा धर्मवीर भारती-क्रमविपर्ययानुसार।

हारी हुई पीढ़ी का कवि कहलाने मे अवश्य ही इन कवियो को आपत्ति नही होगी, अन्यथा सपादक 'अज्ञेय' के विषय मे भले ही ऐसा कह भी लेता, अन्य दो कवियो को इस कवि के साथ अवश्य ही नही घसीटता। मैं झटपट कह दूं कि पराजय के सबध मे मेरी कोई रूमानी धारणा नही है। कोई मानता है कि वह पराजित पीढी या जाति का सदस्य हैं और ऐसा मान कर गीत गाता है, तो उसे इतने भर के लिए तो स्वतत्रता होनी ही चाहिए। युद्ध होता है तो दो मे से एक पक्ष की पराजय होती ही है। कभी-कभी पराजित पक्ष पराजित होने पर भी यह मानने को तैयार नही होता कि वह पराजित हुआ है—खास कर जब तक विजयी इसके लिए विवश करने को खडा न हो। यह तो विशिष्ट मनस्विता का ही परिचायक है कि बिना किसी विवशता के कुछ कवि कहें कि वे पराजित पीढी के गायक हैं—जयी पीढी के गायक तो वे भी बनते-फिरते हैं जो कभी उस पक्ष मे थे जो पराजित हो गया हो, किन्तु जिसके ही जयी होने की पहले आशा थी।

इसलिए जिन लोगो को आपत्ति हो कि क्यो ये कवि पराजय कुबूल करते हैं, वे अपनी सहानुभूति का अपव्यय करते हैं ; उन्हें भी अवश्य यह

स्वतंत्रता है कि वे अपने को जीती हुई पीढी का गायक उद्घोषित करें—यदि इसे वे सत्य मानते हो, या इससे यदि उन्हें सतोष मिलता हो। पराजय की यह घोषणा कुछ नयी नही है। सान फ्रांसिस्को मे 'आहत पीढी'--'बेट जेनरेशन'—की बडी चर्चा इधर होती रही है और अमरीकी पत्रिकाओ मे इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पडी है। उल्लिखित भारतीय कवि अपने को आहत कह कर ही शायद सतुष्ट न हो पाते, इसलिए उन्होने अपने को चार कदम आगे बढ़कर पराजित घोषित कर दिया है। आहत होते हुए भी अपराजित रहा जा सकता है। हारने के पहले आहत होना अनिवार्य सा है।

पराजित पीढी से क्या तात्पर्य है, इस पर किसी ने कुछ कहा है तो मैं अपनी अनभिज्ञता स्वीकार करता हूँ। 'अज्ञेय' की दो कविताओ मे से पहली की चार पक्तियाँ हैं —

"Better one dross-free grain of intrinsic vision
From the furnace of experience
Than intricate forms, philosophies, systems of truth
and beauty.
Lit with alien light-

दूसरी कविता की भी कुछेक पक्तियाँ उद्धृत हैं --

"Mine be the willing service.
To guide and escort you to the seashore
Thereafter the waves, the star,
The golden boat, the rose-tinted dawn,
O my chosen one
Be yours for ever more

इन पंक्तियो का कवि यदि अपने को पराजित कहता है, या अपनी पीढी को, तो तीन बातें ही कल्पनीय हैं या तो वह छद्म—छायावादी है--छायावादी, जिसे व्यथा--वेदना--पीडा प्रिय हुआ करती थी--या उसमे वैष्णवी विनम्रता है, या फिर वह आत्म-पीडन-रतिक है। 'Rose-tinted dawn' जैसी पक्तियाँ 'अज्ञेय' की कविताओ मे और भी दो-चार बार आ जाएँ तो शायद उन्हें प्रगतिवादी भी क्षम्य मान लें।

विजयदेव नारायण साही की कविता का शीर्षक 'The Seller of Dreams' है, किन्तु स्वप्नो के इस व्यापारी के स्वर मे भी पराजय नही है। हाँ, धर्मवीर भारती की कविता की ये अ तिम पक्तियाँ अवश्य ही पराजय का अभिप्रेयार्थ प्रस्तुत करती हैं —

"We all have fed the soul upon false words
Our foreheads bear the brand of shame
The hilts we clutch are all of broken swords
We, invincible soldier all

किंतु आहत युग की व्यजना के अनेकविध स्पष्टीकरण हुए हैं। इनमे से अधिकाश कवि की सामाजिक स्थिति से सबद्ध है। कवि की समाज मे जो स्थिति है—उपेक्षा तथा विवशता की—उसका वह आदर करता है, और अपनी असुविधापूर्ण स्थिति से वह पाखड और अन्याय का पर्दाफाश कर सकने की उम्मीद रखता है। कोई कवि सफल हो जाता है, या कभी-कभी प्रौढता प्राप्त कर लेता है, तो वह अपनी सामाजिक स्थिति से उठकर ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है जहाँ वह आदरणीय, नि शेप हो जाता है---कम-से-कम यही 'आहत' समाधान है।

किंतु जैसा कि रोजाली मूर ने अपनी टिप्पणी मे बताया है, 'आहत' का एक अधिक तात्त्विक अर्थ है, जिसका सबध उस 'जाज' सगीत से है जिससे आहत कवि बहुधा घनिष्ठता रखता है। आहत का अर्थ है लय। आहत कवि मानता है कि वह अपने समय की लय से समजस है, या उस तात्त्विक वास्तविकता से जो विधि-विधान, आडम्बर, शोपण के नीचे स्पंदित रहती है।

आहत कविता मे कवि की उत्तेजता भरी रहती है, जो बहुधा कविता के लिए घातक सिद्ध होती है। ऐसी कविता मे अक्सर झूठी इदानीतनता रहती है। इस इदानीतनता की अभिव्यक्ति ऊँचे स्वर से होती है, जो कविता के लिए अपकर्षकारक होता है। रोजाली मूर ने अपने इस विश्लेषण के प्रसग मे ऐलेन जिन्सबर्ग के 'फेत्कार'—'Howl' का जो उदाहरण दिया है, वह नाम से ही ठीक मालूम पडता है। यदि कवि अपनी उत्तेजना प्रदर्शित करने के बदले पाठक को उत्तेजित करता है, तो कविता को कम

क्षति पहुँचती हैं, यद्यपि आहत होने पर कविता में पाठक को अपने मे निमग्न कर लेने का अधिक शक्ति नही रहती।

रोजाली मूर ने एक अन्य कवि की कृति 'Refusal for Heaven' मे चित्रित 'Crucifix' का भी उल्लेख किया है, और अनजाने यह भी सकेतित कर दिया है कि 'आहत' की एक सूक्ष्म और आध्यात्मिक प्रतीकात्मकता है आहत कवि क्रूस पर चढा मसीहा है।

लेकिन क्या 'अज्ञेय' पराजित पीढी कह कर आहत पीढी नही कहना चाहते थे? क्या आहत को उच्छिष्ट समझ कर उन्होने उसे पराजित वना डाला है? 'वाक्' के पराजित कवि आहत के नाम से अभिहित हुए होते तो यह नही कहा जा सकता था कि इस नाम का आधार ही नही है, या कि यह सिक्का चालू नही हो चुका है।

*

डॉ० बच्चन सिह

नयी कविता : उपलब्धियाँ और अभाव

आज के साहित्यिक रचना-प्रकारो मे नयी कविता के सवध मे जितना विवाद हुआ और हो रहा है उतना अन्य किसी के सवध मे न हुआ है और न हो रहा है। पर 'वादे वादे जायते तत्त्ववोध' की उक्ति यहाँ चरितार्थ नही हुई। वादी-प्रतिवादी के दो शिविरो मे वँट जाने के कारण लोग अपने-अपने पक्ष की वकालत करने मे ही अधिक सलग्न रहे। तथ्य की वास्तविकता को कभी तो जान-बूझ कर और कभी अनजान मे ही नजर अदाज कर गये। यह नयी कविता के विवेचन की सामान्य प्रवृत्ति रही है।

ये विवाद छायावादी कविताओ के सवध मे चलने वाले विवादो का एक धूमिल चित्र उभार देते हैं। वहाँ भी नयी कविता की भाँति ही एक ओर जहाँ कवियो ने लवे-लवे वक्तव्यों, लेखों और भूमिकाओ मे अपने को स्पष्ट करने का प्रयास किया दूसरी ओर परम्परागत शास्त्रीय सस्कारो मे पले हुए आलोचको ने उनकी धज्जियाँ उडाने मे कोई कसर नही की। कवियो और

सहृदयो के बीच की खाई पटते-पटते पटी। प्रसाद और पत को समझने मे कम समय लगा, पर निराला के अतिशय विद्रोही व्यक्तित्व को समझते-समझते अरसा बीत गया। (अब भी उनके समझने वालो की सख्या कम ही है)। जो भी हो, छायावादी कवियो ने विरोध से बल ग्रहण किया और अपनी तपः पूत साधना से हिन्दी को स्थायी साहित्य दिया।

पर क्या यही बात नयी कविता पर लागू है ? क्या नयी कविता ने वैसे ही सशक्त व्यक्तित्व और स्थायी मूल्य की रचनाएँ दी हैं ?

विरासत

नयी कविता ने अपने आप मे कोई ऐसा कार्य नही किया था कि उसका प्रवाह अपेक्षित गति न प्राप्त कर सका। सच यह है कि इस बेचारी को साधक कवि बहुत कम मिले। नये कवियो को दूसरो को समझाने की जितनी धुन लगी रही उतनी स्वय अपने को समझने की नही। नयेपन का जोश और दूसरो को समझाने का उत्साह इस सीमा तक बढा कि नये कवि अपनी काव्य-परम्परा से इसका सबध जोडने मे हीनता का अनुभव करने लगे।

छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया के वजन पर सोचने वाले नये कवियो ने झट से इसे छायावाद की प्रतिक्रिया कहकर छुट्टी ले ली। नये कवियो मे अपना विशिष्ट स्थान रखनेवाले गिरजाकुमार माथुर ने 'आलोचना' के बारहवे अक मे लिखा है 'आज इसे सभी स्वीकार करते हैं कि नयी कविता छायावाद के काल्पनिक रोमान, व्यक्तिवादी निराशा और आध्यात्मिक पलायन की प्रतिक्रिया बन कर आयी थी।' दूसरे 'सप्तक' मे प्रकाशित हरि नारायण व्यास का वक्तव्य माथुर जी से बहुत भिन्न नही है—'यह कहना अनावश्यक होगा कि उक्त छायावाद व्यक्तिवादी पतनोन्मुखी मन की विवशता का परिचायक ही है जिसमे व्यक्ति ने अपनी मानसिक दासता के लिए अपनी एक मौलिक एव मधुर दार्शनिक वृत्ति को अपना लिया था। यह दार्शनिक वृत्ति वस्तुत क्षयग्रस्त मन की भाषा के अतिरिक्त कुछ नही हो सकी।' ऊपर मैंने बहुत भिन्न शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया हैं। माथुरजी ने छायावाद के कतिपय निषेधात्मक पक्षो का उल्लेख किया है। कम-से-कम उन्होंने निश्चयात्मक ढग से छायावाद की सीमाओ का निर्धारण नही किया है। व्यास जी

ने जिस सस्ती भावुकता (सेंटीमेंटैलिटी = भावुकता-विवेक) का परिचय दिया है वह छायावाद के विद्यार्थी को आश्चर्यान्वित किये विना नही रह सकती।

छायावाद के सबध मे उपर्युक्त दोनो मत, असंतुलित और एकागी हैं। जिस राजनीतिक परिस्थिति और सास्कृतिक परिवेश मे छायावाद का जन्म हुआ उसमे आंशिक रूप से उपर्युक्त प्रवृत्तियो का सन्निविष्ट हो जाना स्वाभाविक था। पर उसी को छायावाद मान लेना, तथ्य को झुठलाना अथवा उसमे अपरिचित होना है। समग्र रूप से छायावाद का स्वर विद्रोही स्वर है जा नये मानवतावाद और नवीन युग-चेतना का मार्ग-दर्शक है। नयी कविता के सूत्रो को छायावादी काव्य मे सरलता मे खोजा जा सकता है। ये सूत्र निराला की कविताओ में प्रभूत मात्रा मे विखरे पडे हैं। व्यक्तिपरकता तथा सामाजिक चेतना का जो समन्वयात्मक आलोक निराला की कविताओ मे फूटा है, वह आज भी अपनी अमलीनता और ऊष्मा मे अप्रतिम है, वेजोड है। अच्छा तो यह होता कि नवीन कविता को उनकी कविता की पृष्ठभूमि मे परखा जाता। पर यह स्वतत्र लेख का विषय है। यदि निराला की संपूर्ण कविताओ का आकलन किया जाए तो उनमे विद्रोह, ललकार, निष्ठा, आस्था आदि का स्वर ही अधीक तीव्र है, हार, लाचारी, कुंठा और विवशता का नही। आज की कविता मे वौद्धिकता का जो तेज दिखलाई पडता है वह निराला की वौद्धिकता के विकास की ही अगली मजिल है। आश्चर्य तो तव होता है जव गिरिजा कुमार माथुर जैसे कवि उनकी कविताओ को कुछ का कुछ समझ लेते हैं। माथुर जी को उनके 'कुकुरमुत्ता' मे वर्गाभास दिखाई पडता है जो वहाँ है ही नहीं। वह तो साफ साम्यवाद-विरोधिनी (साम्यवाद के कतिपय पक्षो की विरोधिनी) रचना है। 'गर्म पकोडी', 'प्रेम-संगीत', 'खजोहरा' 'रानी और कानी' को यथार्थ-विरोधी कह कर अपने पूर्वग्रही सिद्धांत को पुष्ट करने के लिए माथुर जी ने जिस सीधी राह का अनुसरण करना चाहा है उसीने उन्हें गुमराह कर दिया है। ये रचनाएँ यथार्थ विरोधी नही रोमास-विरोधी है। रोमास-विरोधी रचना और यथार्थ-विरोधी रचना-- दोनो एक नही हो सकती। यह निराला के वुद्धिवाद के मेल मे है।

विषयवस्तु की नवीनता के अतिरिक्त नयी कविता की टेकनीक सबंधी उनकी [illegible] भी स्वीकार करनी पडेगी। 'छदो की छोटी राह' छोडकर मुक्त-

सहृदयो के बीच की खाई पटते-पटते पटी। प्रसाद और पत को समझने मे कम समय लगा, पर निराला के अतिशय विद्रोही व्यक्तित्व को समझते-समझते अरसा बीत गया। (अब भी उनके समझने वालो की सख्या कम ही है)। जो भी हो, छायावादी कवियो ने विरोध से बल ग्रहण किया और अपनी तपः पूत साधना से हिन्दी को स्थायी साहित्य दिया।

पर क्या यही बात नयी कविता पर लागू है ? क्या नयी कविता ने वैसे ही सशक्त व्यक्तित्व और स्थायी मूल्य की रचनाएँ दी हैं ?

विरासत

नयी कविता ने अपने आप मे कोई ऐसा कार्य नही किया था कि उसका प्रवाह अपेक्षित गति न प्राप्त कर सका। सच यह है कि इस बेचारी को साधक कवि बहुत कम मिले। नये कवियो को दूसरो को समझाने की जितनी धुन लगी रही उतनी स्वय अपने को समझने की नही। नयेपन का जोश और दूसरो को समझाने का उत्साह इस सीमा तक बढा कि नये कवि अपनी काव्य-परम्परा से इसका सबध जोडने मे हीनता का अनुभव करने लगे।

छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया के वजन पर सोचने वाले नये कवियों ने झट से इसे छायावाद की प्रतिक्रिया कहकर छुट्टी ले ली। नये कवियो मे अपना विशिष्ट स्थान रखनेवाले गिरजाकुमार माथुर ने 'आलोचना' के बारहवे अक मे लिखा है 'आज इसे सभी स्वीकार करते हैं कि नयी कविता छायावाद के काल्पनिक रोमान, व्यक्तिवादी निराशा और आध्यात्मिक पलायन की प्रतिक्रिया बन कर आयी थी।' दूसरे 'सप्तक' मे प्रकाशित हरि नारायण व्यास का वक्तव्य माथुर जी से बहुत भिन्न नही है—'यह कहना अनावश्यक होगा कि उक्त छायावाद व्यक्तिवादी पतनोन्मुखी मन की विवशता का परिचायक ही है जिसमे व्यक्ति ने अपनी मानसिक दासता के लिए अपनी एक मौलिक एव मधुर दार्शनिक वृत्ति को अपना लिया था। यह दार्शनिक वृत्ति वस्तुत क्षयग्रस्त मन की भाषा के अतिरिक्त कुछ नही हो सकी।' ऊपर मैंने बहुत भिन्न शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया हैं। माथुरजी ने छायावाद के कतिपय निषेधात्मक पक्षो का उल्लेख किया है। कम-से-कम उन्होंने निश्चयात्मक ढग से छायावाद की सीमाओ का निर्धारण नही किया है। व्यास जी

ने जिस सस्ती भावुकता (सेंटीमेंटैलिटी = भावुकता-विवेक) का परिचय दिया है वह छायावाद के विद्यार्थी को आश्चर्यान्वित किये विना नही रह सकती।

छायावाद के सबध मे उपर्युक्त दोनो मत, असतुलित और एकागी हैं। जिस राजनीतिक परिस्थिति और सास्कृतिक परिवेश मे छायावाद का जन्म हुआ उसमे आशिक रूप से उपर्युक्त प्रवृत्तियो का सन्निविष्ट हो जाना स्वाभाविक था। पर उसी को छायावाद मान लेना, तथ्य को भुठलाना अथवा उससे अपरिचित होना है। समग्र रूप से छायावाद का स्वर विद्रोही स्वर है जा नये मानवता-वाद और नवीन युग-चेतना का मार्ग-दर्शक है। नयी कविता के सूत्रो को छायावादी काव्य मे सरलता मे खोजा जा सकता है। ये सूत्र निराला की कविताओ मे प्रभूत मात्रा मे विखरे पडे हैं। व्यक्तिपरकता तथा सामाजिक चेतना का जो समन्वयात्मक आलोक निराला की कविताओ मे फूटा है, वह आज भी अपनी अमलीनता और ऊष्मा मे अप्रतिम है, वेजोड है। अच्छा तो यह होता कि नवीन कविता को उनकी कविता की पृष्ठभूमि मे परखा जाता। पर यह स्वतत्र लेख का विषय है। यदि निराला की संपूर्ण कविताओ का आकलन किया जाए तो उनमे विद्रोह, ललकार, निष्ठा, आस्था आदि का स्वर ही अधीक तीव्र है, हार, लाचारी, कुंठा और विवशता का नही। आज की कविता मे वौद्धिकता का जो तेज दिखलाई पडता है वह निराला की वौद्धिकता के विकास की ही अगली मंजिल है। आश्चर्य तो तव होता है जव गिरिजा कुमार माथुर जैसे कवि उनकी कविताओ को कुछ का कुछ समझ लेते हैं। माथुर जी को उनके 'कुकुरमुत्ता' में वर्गाभास दिखाई पडता है जो वहाँ है ही नही। वह तो साफ साम्यवाद-विरोधिनी (साम्यवाद के कतिपय पक्षो की विरोधिनी) रचना है। 'गर्म पकोडी', 'प्रेम-संगीत', 'खजोहरा' 'रानी और कानी' को यथार्थ-विरोधी कह कर अपने पूर्वग्रही सिद्धात को पुष्ट करने के लिए माथुर जी ने जिस सीधी राह का अनुसरण करना चाहा है उसीने उन्हें गुमराह कर दिया है। ये रचनाएँ यथार्थ विरोधी नही रोमास-विरोधी है। रोमास-विरोधी रचना और यथार्थ-विरोधी रचना-- दोनो एक नही हो सकती। यह निराला के बुद्धिवाद के मेल मे है।

विषयवस्तु की नवीनता के अतिरिक्त नयी कविता को टेकनीक सबंधी उनकी विरासत भी स्वीकार करनी पडेगी। 'छदो की छोटी राह' छोडकर मुक्त-

छद के प्रशस्त मार्ग पर कविता को ले आने का श्रेय इसी महाकवि को है। बीच के कुछ वर्षों को छोडकर नवीनतम नयी कविता मे लय सबधी उनकी टेकनीक बरती जा रही है। रह गया काव्य-भापा और बोलचाल की भापा के सान्निध्य का प्रश्न। यदि निराला की 'गीतिका', 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' आदि कतिपय रचनाओ को छोड दें (सब की सब छन्दोबद्ध हैं) तो सामान्यत मुक्तछन्द और कुछ छन्दोबद्ध रचनाए काफी सबल और आम फ़हम के समीप हैं। 'जुही की कली' (१९१६), 'जागो फिर एक बार' (१९२१) 'भिक्षुक' (१९२१), 'धारा' (१९२१), 'छत्रपति शिवाजी' (१९२२), 'सरोज स्मृति' (१९३५) की भापा की सादगी और सरलता को देखते हुए कैसे कहा जा सकता है कि उनकी भापा वायवीय अथवा पाडित्यपूर्ण हैं। एक उदाहरण लीजिए —

वे जो जमुना के-से कछार
पद फटे बिवाई के उघार
खाये के मुख ज्यो, पिये तेल
चमरौंवे जूते से सकेल
निकले, जी लेते घोर गध
उन चरणो को मै यथा अध,
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूँ, ऐसी नही शक्ति।
ऐसे शिव से गिरजा-विवाह
करने की मुझको नही चाह।

इस कविता की अप्रस्तुत-योजना, व्यग्य-विधान, भापा-सारल्य--सबकुछ नयी कविता के काफी निकट है।

छायावाद की उन्मेषशील प्रवृत्तियाँ प्रगतिवादी काव्य मे दिखाई पडी तो ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ 'बच्चन', 'अचल' और नरेन्द्र शर्मा के रुग्ण तथा क्षयग्रस्त काव्यो मे! पहली मे सामाजिक चेतना अतिशयता के एक छोर पर थी तो दूसरी प्रवृत्ति मे वैयक्तिकता उसके दूसरे छोर पर। इस अतिवादिता का परिणाम यह हुआ कि पहली मे काव्य-पक्ष की बलि चढायी गयी तो दूसरी

मे स्वस्थ मनोवृत्तियो की। इसी का परिणाम है कि नयी कविता के प्रारम मे दोनो प्रकार का घालमेल दिखाई पडता है।

यदि नयी कविता का अपनी काव्य-परपरा से विछिन्न मान लिया जाए तो इसके प्रेरणा-स्रोत को कहाँ खोजना होगा ? क्या इसने भी सर्वांश में अपनी परपरा से कट कर पाउड, ईलियट, रीड, सिटवेल्स, ग्रेव्स, डायलन टामस, आडेन, स्पेडर आदि से प्रेरणा ग्रहण की है ? कुछ लोग (कवि और आलोचक, दोनो) नयी कविता के मूल-स्त्रोत को उन्ही कवियो मे ढूँढते हैं। पर इनके विषय-वस्तु तथा शैलीगत प्रयोगो का अध्ययन हमे कुछ दूसरे ही निष्कर्षों पर पहुँचाता है। हमारे देश का सामाजिक विकास योरोप की समानान्तरता मे नही हुआ है। और आज भी औद्योगीकरण और वैज्ञानिक-अन्वेषणों के क्षेत्र मे हम काफी पिछडे हुए हैं। आज के आणविक युग मे योरप की विचार-पद्धति मे वैज्ञानिकता की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है, जब कि हम आध्यात्मिकता (रूढ दार्शनिक अर्थ मे नहीं) को छोडने मे अपने को असमर्थ पा रहे हैं। ऐसी स्थिति मे दो विभिन्न सांस्कृतिक भूमियो पर एक ही तरह की कविता कैसे उगती ?

१९३० के आसपास लुई मैकनीस, आडेन, लेविस और स्पेंडर ने अपनी कविताओ को औद्योगिक शहरो और वैज्ञानिक क्षेत्रो से गृहीत अप्रस्तुतो द्वारा अलंकृत करना आरभ किया। सन् १९३४ मे सेसिल डे लेविस ने वैज्ञानिकता को कविता का अग बना लेने का जोरदार समर्थन किया। आडेन ने वैज्ञानिक शब्दो को वैयक्तिक रग में रँगकर कविता मे प्रयुक्त किया। बाद मे न्यू एपोकैलिप्स स्कूल ने इस आन्दोलन का जोरदार विरोध किया। इस स्कूल ने अप्रस्तुतों के लिए इतिहास-पुराण के पृष्ठो की छानबीन की। कैथलीन रेन ने इस सबध मे एक तीसरी पद्धति अपनायी। उसने वैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग इस ढग से किया कि वैज्ञानिक अन्वेषणो मे निहित काव्य-सत्य को उद्घाटित किया जा सके। दूसरे शब्दो मे इन्होंने वैज्ञानिक अन्वेषणो मे विज्ञान की अपेक्षा वृहत्तर सत्यो को खोज निकालने का प्रयास किया। यहाँ पर इस क्रिया-प्रतिक्रिया को दूर तक विश्लेषित करना हमारा प्रयोजन नही है। कहना केवल इतना ही है कि हिन्दी नयी कविता के विकास को अंग्रेजी की नयी कविता

के विकास के ढर्रे पर नही समझा जा सकता। हिन्दी की नयी कविता मे अप्रस्तुतो के रूप मे वैज्ञानिक शब्दावली का बहुत कम प्रयोग हुआ है। इससे इतना स्पष्ट हो गया कि दोनो की अप्रस्तुत योजना मे काफी भिन्नता है।

लेकिन इसका मतलब यह नही है कि हिन्दी की नयी कविता ने अंग्रेजी से कोई प्रेरणा ही नही ग्रहण की। छायावाद और प्रगतिवाद की भाँति इसने भी विदेशी कविता से बहुत कुछ लिया, पर जिस प्रकार छायावाद और प्रगतिवाद हिन्दी के अपने वाद हैं उसी प्रकार नयी कविता भी हिन्दी काव्य-परंपरा के मेल मे है—यह उसका अगला कदम है।

व्यतिक्रम

काव्य-परपरा के इस नैरन्तर्य का भूलकर जो लोग नयी कविता के विश्लेषण का प्रयास करेंगे वे इसके साथ न्याय कैसे कर सकेंगे! उन्हें तो नयी कविता व्यतिक्रमात्मक और विदेशी तत्त्वो से आक्रान्त दिखाई पड़ेगी। नैरन्तर्य का तात्पर्य किसी एक ही प्रकार के प्रयोग के चतुर्दिक चक्कर लगाना नही है। यह नैरन्तर्य स्वयं मे स्थिर न होकर गत्यात्मक है। और यह गत्यात्मकता सामाजिक तथा सास्कृतिक परिवेश के साथ बँधी हुई है।

नयी कविता के प्रायोगिक पक्ष को लेकर कहा जाने लगा है कि यह बहुत कुछ रूपवादी (फार्मलिस्ट) हो गयी है। किंतु आज की जटिल परिस्थितियो को अनदेखी करके ही उस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। फिर यह स्थिति हिन्दी कविता की ही नही है, वरन् विश्व की प्राय सभी भाषाओ की कविता का रग-ढग कुछ इसी प्रकार का है। इसलिए काव्य की इस नवीनतम प्रवृत्ति के संवध मे भावुकता पूर्ण निर्णय दे-देना खतरे से खाली नही है।

आज का युग अपनी विविधताओ और अनेकमुखी समस्याओ मे बहुत ही र्बोध और गूढ हो गया है। जहाँ एक ओर ज्ञान-विज्ञान की अनेक नवीन ाखाओ ने हमारे मानस-जगत को व्यापक बनाकर उसकी वोध-वृत्ति को ागरूक और सजग वना दिया है वहाँ दूसरी ओर उन्होने ऐसी जटिल समस्याएँ ी पैदा कर दी हैं जो हमारे पूर्वजो के लिए कल्पनातीत थी। इसके परिणाम

स्वरूप मानवीय मूल्यो मे इतनी तेजी से परिवर्तन होने लगा है कि धर्म, मजहब और नैतिकता की पुरानी मान्यताएँ खंडित ही नही हुई हैं बल्कि उनके खडहरो पर बहुत सी मान्यताएँ बनी और ध्वस्त भी हुईं। इन परिवर्तित मूल्यो को सही ढग से आँक पाने के लिए पुरानी शब्दावली समर्थ नही रह गयी।

इस वैयक्तिकता-इसे अतिशय वैयक्तिकता भी कहा जा सकता है, का परिणाम यह हुआ कि सर्वसाधारण के लिए आज की कविता दुर्बोध हो गयी। पर सर्वसाधारण के लिए कविता सुबोध ही कब थी ? कविता कभी भी सर्व-साधारण-सवेद्य नही रही। हाँ, वह सहृदय सवेद्य अवश्य थी। सहृदय, कवि का समानधर्मा होता है। नयी परिस्थितियों मे जिस प्रकार कवि की सवेदन-क्षमता (सेंसिबिलिटी) और अभिव्यंजना प्रणाली मे परिवर्तन हुआ उसी प्रकार सहृदय की संग्राहकता और बोध-वृत्ति मे भी। फ्रेंसिस स्कार्फ के इस कथन में कि 'आज व्यक्ति एक अर्थ मे सीमित होने के लिए बाध्य हो गया है और पुनर्जागरण-आन्दोलन के सार्वजनीन व्यक्ति की कल्पना आज सत्य नहीं हो सकती' -तथ्य है। उसका तो यह भी कहना है कि आज का सार्वजनीन व्यक्ति कवि ही नही हो सकता। फिर भी इससे साधरणीकरण के सिद्धान्त मे कोई अन्तर नहीं पडता, क्योंकि कवि के अर्थ मे ही सहृदय का व्यक्ति भी सीमित हो गया है। इस सिद्धान्त की उपेक्षा सुररियलिस्ट ढंग से प्रपद्यवादी कवियो ने अधिक की। काशी की एक गोष्ठी मे दो सुप्रसिद्ध कवियो-नलिनविलोचन शर्मा और केसरी कुमार-मे से अतिम ने साधारणीकरण को फूँक मार कर उडा देने की जो चेष्टा की वह अत्यधिक चित्य कही जा सकती है। नयी कविता के अन्य प्रवंतक कवि 'अज्ञेय' ने साधारणीकरण के सिद्धान्त को स्वयं स्वीकार किया है। उनकी कविताओं के अतिम दो संग्रह-'बावरा अहेरी' और 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये' निश्चय ही सहृदय-सवेद्य हैं। यह दूसरी बात है कि सहृदये. की सख्या कम हो।

प्रवृत्तियाँ

नयी कविता की सबसे स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है—वैयक्तिकता। यह वैयक्तिकता कहाँ पर दायित्व की परिधि का स्पर्श करती है और कहाँ तक उच्छृंखल अराजकता की— यह प्रश्न भी इस प्रवृत्ति के साथ जुडा हुआ है।

ऊपर कही इसका उल्लेख किया गया है कि कविता पर कवि के व्यक्तित्व का कही हल्का कही गहरा रग चढा रहता है। पर परवर्ती कविता धर्म, नीति और दर्शन आदि के अचल से बँधी रही है लेकिन नयी कविता का गठबधन इस प्रकार की किसी मतवादी विचार-धारा से नही हुआ है, फिर भी वह सर्वतंत्र स्वतत्र और निरपेक्ष नही है। वह बँधी है तो नये मानव मूल्यो से।

नये मानवीय मूल्यो से बँधे रहने से जहाँ यह प्रवृत्ति अनुभूति के प्रति ईमानदारी ले आयी है वहाँ मूल्य च्युत होने पर वैयक्तिक स्वतंत्रता ने उच्छृ ंखल मनोवृत्तियो की सर्जना भी की है। पहले का उदाहरण देखिए —

जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो
दीठ से टोह कर नही, मन के उन्मेष से
उसे जानो उसे पकडो मत।
उसी के हो लो।
तुम नहीं व्याप सकते, तुममे जो व्यापा है
उसी को निबाहो।

—'अज्ञेय', —'जितना तुम्हारा सच है'।

दूसरे प्रकार की कविता या तो घोर फ्रायडियन है या अतिशय निराशावादी। इनके उदाहरण पत्र-पत्रिकाओ मे बिखरे पडे हैं। पर मैं इसे नयी कविता का गलनशील अग मानता हूँ।

पहले ही इस बात का सकेत किया जा चुका है कि यह वैयक्तिकता मुख्यत दायित्व पूर्ण है, सामाजिकता से इसे विरोध नही है। पर सारी अभिव्यजनाओ के केन्द्र मे उसका 'मैं' कही भी विसर्जित नहीं हो पाता —

पर मैं प्रकाश का वह अन्त केन्द्र हूँ
जिससे गिरने वाली वस्तुओ की छायाएँ बदल सकती हैं!

लेकिन इसके साथ ही वह सामाजिक तत्त्वो को विस्मृत कर कहता है —

तुम्हे आश्चर्य होगा यह जानकर
कि कवि तुम हो,
और मैं केवल कुछ निस्पृह तत्त्वो का एक नया समावेश,
तुम्हारी कल्पना के आसपास मँडलाता हुआ

जीवन की मभावनाओ का एक दृढ सकेत ।

—कुंवर नारायण

'अज्ञेय' की बहुउद्धृत कविता 'दीप अकेला' मे वैयक्तिकता और सामाजिकता का सामंजस्य खोजना कवि के साथ अन्याय होगा । (ऐसा कई स्थानो पर किया भी गया हैं) । दोनो, दो अलग वस्तुएँ हैं । स्वय को विसर्जित करके भी वह विसर्जित नहीं होता है । उसका स्नेहभरा, मदमाता, प्रकृत, स्वयंभू ब्रह्म, अयुत, जिज्ञासु, प्रवुद्ध और श्रद्धामय 'मैं' पक्ति, शक्ति और भक्ति पर गहरी छाप छोड जाता है । फिर भी वह स्वयं को विसर्जित करने पर प्रस्तुत है ।

नयी कविता की दूसरी प्रवृत्ति है मानवता के प्रति नया दृष्टिकोण । इसके संबंध मे एशिया लेखक-सम्मेलन मे अपने विचार व्यक्त करते हुए 'अज्ञेय' ने कहा है— 'अलौकिक अथवा पारलौलिक मूल्यो की खोज और उनपर अपनी निर्भरता छोडकर लेखक अब मानव की अवस्थिति को बिलकुल भिन्न रूप मे देखता है । इसके कई परिणाम होते हैं । एक तो पूर्व और पश्चिम का विरोध कम महत्त्वपूर्ण हो जाता है और इस पर आधारित प्रतिरक्षाएँ अनावश्यक जान पडने लगती हैं । पूर्वी अथवा भारतीय सवेदना से मानवीय सवेदना का महत्त्व स्पष्टतया अधिक है, वल्कि सवेदना के साथ देशगत विशेषण कुछ निरर्थक जान पडते हैं । ... नया लेखक अलौकिक असीम के विरह मे व्याकुल नही है , उसे इस बात की चिंता कही अधिक है कि वह मानव की भावनाओ से सपर्क न खो बैठे ।' 'अज्ञेय' के इस कथन से पूर्णतया सहमत होना कठिन है । देशगत सस्कारो को एक धक्के मे अलग नही किया जा सकता । भाषागत शब्दो और मुहावरो के मूल मे तद्देशीय सस्कृतियो की झलक साफ दिखाई पडती है । हमारी समूर्तन-कला (इमेजरी) हमारे ही मुहावरो मे ठीक उतरेगी । प्रवृत्ति और प्रेम सबंधी कविताओ मे पूर्व-पश्चिम के सस्कारो का अन्तर साफ झांक जाएगा । दोनो गोलार्द्धो के सौन्दर्य-वोध और उनके मापदडो मे अन्तर जो है ! इसे ठीक ढंग से न समझने के कारण ही नयी कविता मे जहां पश्चिमी अप्रस्तुत और मुहावरे प्रयुक्त किये गये हैं, वहां एक प्रकार की दुर्वोधता और असवेदनीयता आ गयी है। पर 'अज्ञेय' के इस कथन मे सत्य का काफी अश है कि नयी कविता मानवीय सवेदनाओ और भावनाओ से संपर्क स्थापित करने के लिए भरसक

प्रयत्नशील है। नये दृष्टिकोण और मानवीय सवेदनाओ का सामजस्य बैठाना कठिन कार्य है पर नयी कविता की श्रेष्ठ कृतियो मे इसका प्रयास दिखाई देता है।

नया दृष्टिकोण वर्गीय केंचुल छोडकर नये मानवीय मूल्यो के अन्वेषण और प्रतिष्ठा मे निरत है। ये मूल्य–मानवीय भविष्य के प्रति अडिग आस्था, आगत युग की अनगिनत सभावनाओ, कृत्रिम सभ्यता के बधनो से ग्रथित मानव के मोक्ष, धरती के प्रति नये विश्वासो, नर मे नारायण के निवास, मानव के युक्त-गान आदि से सबद्ध हैं —

(१) मार्ग कभी धुँधला हो, दिक्चक्र थोडे ही खो जाता है
ज्ञान अधूरा है सही, विवेक थोडे ही सो जाता है ?
आस्था न काँपे, मानव फिर मिट्टी का भी देवता हो जाता है।
— 'अज्ञेय'

(२) असदिग्ध ये सभी सभ्यता के लक्षण हैं
और सभ्यता
बहुत बडी सुविधा है
सभ्य, तुम्हारे लिए।
किन्तु क्या जाने
ठोकर खाकर कही रुके वह
आँख उठाकर ताके
और अचानक ले तुमको पहचान
अचानक पूछे
धीरे-धीरे-धीरे
'हाँ', पर मानव
तुम हो किसके लिए ?' —'अज्ञेय'

(३) उतरो थोडा और :
साँस ले गहरी
अपने उडनखटोले की खिडकी को खोलो
और पैर रखते मिट्टी पर
खडा मिलेगा

वहाँ सामने तुमको
अनपेक्षित प्रतिरूप तुम्हारा
नर, जिस की अनझिप आँखो मे नारायण की व्यथा भरी है।

— 'अज्ञेय'

नयी कविता की तीसरी प्रवृत्ति है—बौद्धिकता। 'अज्ञेय' ने अपने नवीनतम कविता-सग्रह 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' को भाई विवेक को समर्पित करते हुए लिखा है :—

उसे जो कही
एक-एक सीपी का मुख खोला करता है
और मर्म मे रख देता है
कनी रेत की—

यह इस बात का द्योतक है कि आज की कविता भाव-भाई की अपेक्षा विवेक-भाई (बौद्धिकता) के अधिक निकट है। वह सीपी के मुख मे मधु घोलने, उसे विह्वल और बेसुध बनाने की जगह उसके मुख मे रेत की कनी रख कर उसे सचेत तथा जीवनगत सत्यो के प्रति जागरूक करता है। इसका मतलब यह नही है कि यह मर्म को छू सकने मे सर्वथा असमर्थ है। जो कविता कही-न-कही पाठको को नही छू पाती अथवा उसे कचोटने और झकझोरने मे सफल नही होती वह वास्तव मे कविता नही है। अपनी बौद्धिक प्रखरता के साथ-साथ उसे मर्मस्पर्शिता के गुण से समन्वित होना बहुत जरूरी है।

यथार्थवादिता का आग्रह नयी कविता की चौथी प्रवृत्ति है। यह यथार्थवाद नयी कविता के पहले दौर मे मार्क्स से विशेष प्रभावित था पर युग के साथ उसकी बहिर्चेतना समाप्त हो गयी। अन्त चेतना से सबध जुड जाने के कारण अब वह आरोपित न होकर कवि की चिंतन-प्रणाली और भाव-लोक का अनिवार्य अंग हो गयी है। फ्रायड की छाया भी प्रारंभिक कविताओ पर मँडरा रही थी पर उससे कही आगे बढकर कवियो ने प्रकृतिवाद को अपनाया और नारी की चूडियो को चूर होने की याद से लेकर उसे 'नर सेवित बीज कुंड, नर शिशु की धात्री' तक सीमित कर दिया गया। कही

'अंचल', नरेन्द्र शर्मा द्वारा उत्कट देह की भूख को नयी शब्दावली मे 'उजले धुले से पाँव को' गोद मे रखा गया तो कही 'किसी के सतरंगिया आँचल' को सृजन की पीठिका करार दिया गया। यथार्थवाद के नाम पर यथातथ्यवाद का भोंडा चित्रण भी सामने आया।

कुंठा, निराशा, संदेह से नयी कविता अपने को मुक्त नही कर सकी है। यह इसकी पाँचवी प्रवृत्ति मानी जा सकती है। कुंठा और शंका के पुत्रो को दीपावली के अवसर पर 'दरिद्दर' की तरह खदेड़ा गया पर सूप की आवाज से वे डरे नही और जहाँ के तहाँ डटे रहे। पर संदेह के लिए आज भी गुंजायश बनी हुई है। आज के आणविक युग मे भावी युग के सपनो के आगे प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है। उसे हटाना वास्तविकता की रेत मे सिर गाडना है। एक उदाहरण देखिए —

> रात—कहीं कोई मीनार टूटने की आवाज—
> इधर आयी थी।
> क्या यह सच है।
> सुबह—एक मंदिर के पास
> किसी अजनबी फरिश्ते के पंख पड़े दीखे थे!
> क्या यह सच है!
> दोपहर—किसी टूटे दरवाजे से होकर
> सोने के रथ का जुलूस गुजरा था।
> क्या यह सच है।
> रात—किसी बच्चे ने बुद्धिमूर्ति के आगे
> ऊषा का एक नया मंत्र गुनगुनाया था!
> क्या यह सच है!

केदारनाथ सिंह

माध्यम—मैं

आज की कविता का माध्यम कवि का 'मैं' है, अर्थात् आज की कविता पिछले युगों की अपेक्षा व्यक्तिनिष्ठ अधिक है। यो तो काव्य सर्वदा व्यक्ति-

सत्य ही होता है पर आज की तरह व्यक्ति-सत्य कभी भी इस सीमा तक आत्म-केन्द्रित नही रहा। आज पहले की तरह कोई व्यापक धार्मिक-दार्शनिक विश्वास नही है, किसी एक सार्वजनीन या सार्वभौमिक विचार-धारा का भी अभाव है। छायावादी कविता सास्कृतिक पुनर्जागरण के सूत्र मे गु थी रहने के कारण एक विशेष प्रकार की समुन्नत भाव-भूमि तथा शक्तिशाली शिल्प दे सकी थी। छायावादी कवियो ने भी 'मै-शैली' अपनायी थी। किन्तु प्रगतिवाद से सबका सब स्थूल व्यापक सत्य था, इसलिए उसमे किसी प्रकार की उलझन नही पैदा हुई। यह दूसरी बात है कि वैयक्तिकता से असपृक्त रहकर वह काव्य-सर्जना न कर सकी।

नयी कविता भी नये मानवीय मूल्यो से बंधी हुई है, पर ये मूल्य भी अभी अस्पष्ट और उलझे हुए हैं। इन मानवीय मूल्यो को व्यक्ति-सत्य के रूप मे देखने के अभ्यासी कवि उन्हें व्यापक सत्य नही बना सके। जिन कवियो मे व्यक्ति-सत्य को व्यापक सत्य बनाने की प्रेरणा निरतर क्रियाशील रही है वे अपने माध्यमो के द्वारा ही सरल पर गूढ अर्थव्यजक रचनाएँ दे सके हैं। 'अज्ञेय' के 'बावरा अहेरी' तथा 'इन्द्र धनु रौंदे हुए' मे उस प्रकार की अनेक रचनाएँ मिल जाएँगी। जिन कवियो का सत्य व्यक्ति-सत्य से आगे बढकर व्यक्तिबद्ध हो गया वे गूढातिगूढ अप्रस्तुतो और प्रतीकों के प्रयोग द्वारा पाठकों को चौंका-चौंका कर अपने पाडित्य का रोब गालिब करने लगे। नये कवियो की श्रेणी मे कुछ ऐसे लोग भी घुस गये जिनका सत्य न तो व्यक्ति-सत्य कहा जा सकता है और न व्यक्तिबद्ध-सत्य। ये लोग अप्रस्तुतो और प्रतीको की खोज मे हिन्दुस्तान से दूर भाग कर योरोप के पुस्तकालयों की पुरानी आलमारियाँ झाँकने लगे।

आइए इनके शिल्प-विधान की व्यावहारिक परीक्षा करें। प्रयोग की दृष्टि से इन्होने मुख्यत नवीन प्रतीकों, नयी लय और नये अलंकारो का उपयोग किया है। शिल्प की ये योजनाएँ कहाँ तक नवीन अभिव्यक्तियो की माँग के फलस्वरूप गृहीत हुई है और कहाँ तक अपेक्षित प्रयोजन की सिद्धि मे योग देती हैं—ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। दूसरे शब्दो मे देखना यह है कि इनकी शक्ति और सीमाएँ क्या हैं ?

अप्रस्तुत और प्रतीक

अप्रस्तुत और प्रतीक सर्वदा से काव्य के शाभाकर धर्म रहे हैं--विशेपरूप से अप्रस्तुत। प्रतीको का अधिक प्रयोग नयी कविता की विशेपता है। नये भावो और सवेदनाओ को व्यक्त करने के लिए नये कवियो ने वहुत कुछ परपरा से मुक्त होकर नये अप्रस्तुतो और प्रतीको का उपयोग किया है।

नये काव्य मे प्रयुक्त अप्रस्तुतो और प्रतीको का विवेचन करने के पूर्व इनके पारस्परिक सवधो को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। यह आवश्यकता तब और, बढ़ जाती है जब हम देखते हैं कि इनके संवध मे अनेक ऊटपटाग बातें लिखी जाती हैं। कही तो दोनो को साम्यमूलक कह दिया जाता है तो कही अप्रस्तुत को प्रतीक और प्रतीक को अप्रस्तुत कहने मे किसी प्रकार की झिझक नही दिखायी जाती। यह गलती इसलिए होती है कि अप्रस्तुतो मे प्रतीक और प्रतीको मे अप्रस्तुत की अनिवार्य स्थिति वर्तमान रहती है। फिर भी प्रतीक प्रतीक हैं और अप्रस्तुत अप्रस्तुत।

काव्य मे अप्रस्तुत अलकार के भीतर आता है जो मूलत साम्य (रूप, धर्म -प्रभाव) पर आधारित होता है! अप्रस्तुतो के मुख्य आधार हैं- समान्तरता और तुलना। प्रतीको मे इन दोनो आधारो का अभाव होता है। वह समीकरणात्मक (identical) होता है। कुछ ऐसे अप्रस्तुत होते हैं जिनकी स्थिति अप्रस्तुत और प्रतीक के बीच की है। जैसे, सुख, प्रसन्नता आदि के स्थान पर उषा का प्रयोग प्रतीकवत। आचार्य शुक्ल ने इसे प्रतीकवत ही कहा है। इन्हें न तो शुद्ध अप्रस्तुत ही कहा जा सकता है और न प्रतीक ही। 'अज्ञेय' का 'सॉंप' 'सागर तट की सीप' प्रतीक हैं। कोई शब्द या शब्द समूह जबतक अनेकमुखी मूल्य-अर्थों से सपृक्त नही होता प्रतीक नही हो सकता।

नयी कविता मे प्रयुक्त कुछ अप्रस्तुतो को देखिए —

देह—कनकचपे की कली, नयन—भोर की दो ओस बूँदें, तलुए—मकई से लाल, दूर बांस का झुरमुट—पेंसिल की रेखा, बाँह—चिकना चीड, वर्फ--असुर, मनुज--कुतुंब, विज्ञान--धुएँ का अजगर, फास—एक शरावी का शरीर, रसायनिकघु ध—चीकट'कबल की घुटन, पांव—शरद के चांद, जीवन मे लौटा मिठास—गीत की आखिरी लकीर, माथे पर रखे अधर—आरती के दीपको की झिलमिलाती छांह मे भागवत के पृष्ठ पर रखी हुई बांसुरी,

नवंबर की दुपहर—जार्जेट का पीला पल्ला। हँसी—सीलन के विवर्ण दीवार पर लगा किसी पुराने कौतुकनाटक का फटियल-सा इश्तहार, धूप—शिशुवदन पर माँ की हँसी का प्रतिबिंब, धारयित्री—वासना के पंक-सी फैली हुई, चल नरसल (में) उमड़ा हुआ नदी का जल—क्वारपने के केंचुल में यौवन की प्रबल उद्दाम गति, रूप—निष्काम पूजा-सा, गोद में लहराना—अर्चना की धूप, (रोशनी—बाग, सितारे—बकरियाँ, दूज का चाँद—फटी रोटी का सूखा हुआ हासिया) गीत—भूत, नयन—लालटेन, उतरती-चढ़ती भावनाएँ—थर्मामीटर का पारा, लज्जालु आँखें—बिजली स्टोव, चेतना—छिपकली।)

इन अप्रस्तुतों में अधिकांश नये हैं, पर न तो वे अर्थ-बोध कराने में अक्षम हैं और न अटपटे (अंतिम कुछ को छोड़कर)। पर इनके पीछे छिपे दृष्टिकोण का विवेचन इसलिए आवश्यक है कि आखिर नये अप्रस्तुतों की आवश्यकता क्यों पड़ी? क्या इनके मूल में नयेपन का आग्रह भर ही है अथवा नवीन संवेदना को व्यक्त करने के लिए इस तरह के प्रयोग आवश्यक हैं?

'दूर बाँस का झुरमुट' स्पष्ट करने के लिए 'पेंसिल की रेखा' अप्रस्तुत ले आया गया है। इसमें दूरी की प्रतीति के लिए 'पेंसिल की रेखा' ले आना आवश्यक था पर बाँह के लिए 'चिकना चौड़' नवीनता के आग्रह की रक्षा भर करता है। इससे न तो भावात्मक ऐंद्रिय बोध होता है और न बौद्धिक। किंतु इन दोनों में कोई अर्थ की गंभीरता या दुरूहता स्पष्ट करने के लिए नहीं ले आया गया है। प्रस्तुत से केवल रूप-साम्य होने के कारण ये अप्रस्तुत उतने समर्थ नहीं हो सके हैं। जिन अप्रस्तुतों में प्रतीकत्व जितना अधिक रहेगा वे काव्योन्मेष की उतनी ही अधिक संवर्धना करेंगे। फ़ास के लिए एक शराबी का शरीर बहुत जबरदस्त उपमान है। विषय-वासना में लिप्त क्षीण, वीर्य फ़ास का ऐंद्रिय बिंब उपस्थित करने में यह पूर्ण रूप से सक्षम है। यह उपमान विशेष अर्थ-बोध के लिए ले आया गया है। हँसी के लिए 'सीलन के विवर्ण दीवार पर लगा किसी पुराने कौतुक नाटक का फटियल-सा इश्तहार' कहना एक विशेष प्रकार के अर्थ-बोध की अभिव्यंजना ही है। यह अप्रस्तुत हँसने वाले व्यक्ति के शीर्ण व्यक्तित्व और बेबसी का इजहार करता है। कहना न होगा कि इस प्रकार के बौद्धिक अप्रस्तुतों की संख्या कम है। रेखांकित अप्रस्तुत बौद्धिक न होकर रोमांटिक हैं पर अर्थ-बोध कराने तथा

भावोत्तेजन मे समर्थ होते हुए अपनी ताजगी के कारण विशेष प्रभावापन्न हो उठे हैं। कोष्ठक मे रखे गये अप्रस्तुत नितात अर्थहीन तथा खोखले हैं। ये प्रयोक्ताओ के बौद्धिक दिवालियापन के नमूने हैं !

ऊपर यह चर्चा की गयी है कि प्रतीकवत् प्रयोगो को भी गलती से लोगो ने प्रतीक के खाते मे हांक दिया है। प्रतीक की विशेषता है उसका स्वातत्र्य और अनेक विचारो और भावो से सबद्ध होना। अप्रस्तुतो की अपेक्षा नये प्रतीक अधिक बौद्धिक होने के नाते अधिक सतर्कता की अपेक्षा रखते हैं। आज की कविता मे भावात्मक प्रतीको का प्रयोग प्राय. नही होता है। शीर्षको के रूप मे रखे गये प्रतीको की स्थिति परिधि के उस केन्द्र-विन्दु को भाँति होती है जिसके चारो ओर विचारो या भावो का वृत्त घूमता है। कविता के भीतर पडे हुए प्रतीक भी सर्वथा स्वतत्र और अनेक भावानुसंगो से सयुक्त (association of ideas & emotions) होते हैं। एक कविता मे प्रयुक्त अनेक प्रतीक मिलकर एक सपूर्ण प्रभान्विति की सर्जना करते हैं। 'अज्ञेय' की 'नदी के द्वीप' कविता का शीर्षक स्वय प्रतीक है। लेकिन यह ऐसा प्रतीक नही है कि नाम लेने मात्र से अनेक मूल्य और विचार जागरित होने लगे। इसका प्रतीकत्व पूरी कविता पढ लेने पर ही स्पष्ट होगा। इस प्रतीक से व्यक्तित्व के प्रति सहज निष्ठा और व्यक्ति की मूल्य-मर्यादा आभासित होने लगती है। 'साँप' शीर्षक कविता मे 'साँप' नागरिक सभ्यता के दश, फुत्कार, विष आदि का प्रतीक है। इसी प्रकार जीवन की वास्तविकताओ की लपट मे गलने वाले स्वप्नो का दुष्यन्त कुमार ने 'मोम का घोडा' कहा है, पर अनेक एसोशिएशन्स के अभाव मे यह उतना प्रभावशाली नही बन पड़ा है।–कुँवर नारायण का 'शीशे का कवच', पूरी कविता पढ़ जाने के बाद भी आंशिक रूप मे अपारदर्शी ही बना रहता है।

'सागर तट की सीपियाँ', 'अज्ञेय' की एक दूसरी कविता है। इसका शीर्षक स्वय प्रतीक है, पर सारी कविता को कई प्रतीको—किरकिराते रेत-कन, निस्सीम सागर, इन्द्रधनु रौदे हुए, लहर आदि—से अर्थ पूर्ण बनाया गया है।

इन प्रतीको के अतिरिक्त नयी कविता मे कुछ पौराणिक प्रतीक भी गृहीत हुए हैं, जो मुख्यत: महाभारत के पात्र हैं। कर्ण, द्रोण, एकलव्य,

अभिमन्यु, अश्वत्थामा, चक्रव्यूह आदि ऐसे ही प्रतीक हैं। इनमे से कुछ तो उपयुक्त संदर्भ मे प्रयुक्त होने मे काफी व्यंजक हो गये हैं और कुछ अयथास्थान मे पड जाने से अर्थच्युत और निस्तेज।

लय

नयी कविता मे लय का प्रश्न बहुत ही विवादास्पद बना हुआ है। मुक्त-छन्द ने लय का सर्वथा स्वागत किया, आतरिक तुको और कडियो की प्रवाह-मयता का ध्यान रखा। पर नयी कविता में एक ओर लय पर ध्यान रखने को कहा जाता है दूसरी ओर उसमे लय पर ध्यान नहीं दिया जाता है। अंग्रेज कवियो की देखा-देखी अब लय को आतंरिक या अर्थगत कहा जाने लगा है। किंतु यह अर्थगत लय क्या है ? क्या इसे शब्दगत लय से अलग माना जाए ? क्या शब्दगत लय से अर्थगत लय का कोई संबंध नही है ? यदि कविता का संबंध भावो मे है तो उसकी अभिव्यक्ति लयात्मक होगी ही। हाँ 'कैटलाग'-कविता के लिए लय की आवश्यकता नही है। एक उदाहरण लीजिए

> वे तो पागल थे—
> जो सत्य, शिव, सुन्दर की खोज मे
> अपने-अपने सपने लिए,
> नदियो, पहाड़ो, बियावानो, सुनसानो मे
> फटे हाल भूखे प्यासे
> टकराते फिरते थे,
>
> —सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

इसमें कौन सी लय मानी जाए ? -शब्द की या अर्थ की अथवा किसी की भी नही। नयी कविता के श्रेष्ठ कवि की एक कविता लीजिए—'मैं—मेरा, तू—तेरा' यह पूरी कविता पाँच टुकडो मे बँटी हुई है। इसमें एक पक्ति को छोडकर शेष मे लय विद्यमान है। यहाँ पर लय ले आने के लिए आन्तरिक तुको तथा अनुप्रासों की आवश्यकता नही है, फिर भी लय का निर्वाह किया गया है। पहली चार पंक्तियाँ देखिए,—

> जो मेरा है

वह बार-बार मुखरित होता है
पर जो मैं हूँ
उसे नही वाणी दे पाता ।

अतिम पक्ति के आरभ मे एक यति डाल देने से लय का निर्वाह हो गया है । पर जरा उसका तीसरा टुकडा देखिए —

जो मै हूँ
वह एक पुज है दुर्दम आकाक्षा का
पर उसके बल पर
जो मेरा है बार-बार देता हूँ ।

अतिम पक्ति मे शब्द-गति लय की कमी आयी है वह अर्थगत गभीरता को क्षीण कर देती है ।

अपनी पुस्तक 'फेज़ेज ऑफ इगलिश पोइट्री' के नये सस्करण मे अग्रेज कवि-आलोचक हरवर्ट रीड ने नयी कविता को जिन्दा रखने के लिए लय को अनिवार्य बतलाया है ।

भाषा

भाषा की दृष्टि से नयी कविता जन-भाषा के काफी निकट आयी है । जन-भाषा के शब्द, मुहावरो के अतिरिक्त उसकी टोन, लय आदि को अपना कर जहाँ उसे सरलतर किया गया है वहाँ हिन्दी के शब्द-भांडार की वृद्धि भी की गयी है । अनेक कवियो ने ईमानदारी के साथ शब्दो को इस ढग से रखने का प्रयास किया है कि अर्थानुसगो (associations of meanings) के कारण उनकी अर्थवत्ता और व्यजकता बढ़ जाए । विशेषणो के सं.ा के रूप मे प्रयोग, नाम धातुओ के उपयाग, आदि से भाषा दुरूह भावों को व्यक्त करने मे अपेक्षाकृत अधिक समर्थ हुई है ।

उपलब्धियाँ और अभाव

अब हम ऐसी स्थिति मे हैं कि नयी कविता की उपलब्धियो तथा अभावो का आकलन कर सकें ।

नयी कविता का मुख्य स्वर आस्था का स्वर है, यद्यपि मजबूरियों और वैराग्यभावना से, प्रेरित कविताओं की संख्या कम नहीं होगी। आज जब ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाएँ हमें प्रकृति और मानव की बारीकियों को समझने में बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही हैं तो उनकी विभीषिकाएँ सारे सांस्कृतिक और मानवीय मूल्यों के आगे प्रश्न-चिह्न बन गयी हैं। यह परिस्थिति आस्था को नहीं अनास्था को बल देती है। आस्था को जीवत बनाने का मुख्य दायित्व साहित्य पर विशेष रूप से काव्य पर आ गया है क्योंकि यह मनुष्य की उदात्त प्रवृत्तियों और संवेदनाओं (Sensibilities) को ऊर्ध्वोन्मुखी और परिष्कृत करता है।

इस आस्था के अभाव में सच्ची काव्य-सृष्टि असंभव है। यह आस्था मजहबी आस्था नहीं है (जिनके अनुभवी आज भी बड़ी संख्या में हैं), यह आस्था राजनीतिक आस्था नहीं है (जिसके नाम पर नरमेध रचाया जाता है), यह आस्था दार्शनिक आस्था नहीं है (जिसके नाम पर वाग्जाल बिछाया जाता है), यह आस्था तथाकथित राजनैतिक आस्था नहीं है (जिसके नाम पर अधिकांश व्यक्तियों को गुमराह किया जाता है), यह आस्था उन मानवीय मूल्यों की आस्था है जो व्यक्ति को उपर्युक्त सभी बंधनों से मुक्त कर नया दायित्व सौंपती है। इस जीवन और जगत से परिचित कराकर उसे सत्यान्वेषण के लिए अनुप्रेरित करती है।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि नये युग में पुराने संदेह उठ रहे हैं। इससे पैदा होने वाला दमघोट धुँआ धीरे-धीरे फैलता जा रहा है। पर इससे डरने की बात नहीं है। अधिकांश लोगों को आस्था-संदेह की 'जगत-गति' नहीं व्यापती, वे इनसे परे हैं। संदेह का अगला कदम आस्था ही है।

विषय-वस्तु की व्यापकता और शिल्प संबंधी देन की उपलब्धियाँ कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, पर उनका विस्तार देना पिष्टपेषण करना होगा।

नयी कविता की सबसे बड़ी त्रुटि, जो मुझे बहुत अधिक खटकती है, बौद्धिकता को भावों में संबद्ध न करना है। जिन कवियों ने इधर ध्यान दिया उनकी कविताएँ निश्चय ही मर्मस्पर्शी हो सकी हैं। पर बुद्धि, तर्क

ओर व्यंग्य के भोंडे प्रदर्शन से नयी कविता ने अपना पर्याप्त अहित किया है। ऐसा प्राय उन्ही कवियो की रचनाओ मे दिखाई पडता है जो वैयक्तिकता का बार-बार नारा बुलद करने पर भी उसे पा नही सके हैं।

सवेदनाओ के अतिशय व्यक्ति-बद्ध हो जाने पर अथवा उनकी कमी के कारण शिल्प-सबधी दो त्रुटियाँ स्पष्ट दिखाई पडती हैं—एक तो वैचित्र्य प्रदर्शन और दूसरी अस्पष्टता। ऊट-पटाँग अप्रस्तुत और अर्थहीन खोखले प्रतीक के आधार पर जो रचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं वे किसी भी रूप मे प्रशसित नही हो सकती।

नयी कविता मे अपेक्षित ऊँचाई न आने का मुख्य कारण है साधना का अभाव। पुरानी शास्त्रीय मर्यादाओ से छुट्टी पाकर तथा मर्यादाओ से भी मुक्त होकर अपने को मत्र-द्रष्टा मान लेने पर चिन्तन-मनन की आवश्यकता भी तो नही रह जाती! साधना और दूसरो की चमक से चमकना दो अलग-अलग चीजें हैं--साधना वह तप है जिसमे अपने को देकर ही पा सकते हैं —

क्योकि तपस्या
चमक नही है
वह है गलना
गलकर मिट जाना—मिल जाना—
पाना।

*

वीरेन्द्र कुमार जैन

एकेले!

एकाकी झाड और एकाकी मढ़री
वर्षा की बादली विजनता मे चुपचाप
खडी,
दूर कही वह लाल माटी की पहाडी
उस पर वह एकाकी झाड,
झाड तले एकाकी मदरी।
वे दो होकर भी, मिल कर भी,
क्यों अपने-अपने मे इस कदर बद हैं

उधर परे हट कर खडे हैं
और भी चार-पाँच झाड
मानो कि मेले से लौटते आवारा सैलानी,
मुड-मुडकर देखते जा रहे,
बडे कौतुकी, नटखट, भेद भरे नयनो से
झाड मदरी का अनबोला उलझाव
मिलन की छातियो मे कसकता
बिछुडन का अनथाहा घाव
प्राण गुफन की आखिरी सीमा पर

तडपता अभाव

घर से भागे हुए उचाट मन छोकरे-सा
भटका हुआ चाव ।

विजन पहाडी पर,
एकाकी झाडतले, एकाकी मदरी
ठीक उसी की सीध मे
यह मदिर का एकाकी स्वर्ण-शिखर
उसके ध्वजा-दंड पर अकेला, उदास
नयन,
दिगातो को पी रहा
श्री राधा के मन का चिर विछोही
कबूतर ।
जब कि इस शिखर तले मदिर मे
मोहन के सग श्री राधा हैं, सनातन
विराजमान ।

आरपार फैले सुर्मीले अवकाश मे
झाड-गाछो के बीच उठ आयी
छतो के अथाह नीले-भूरे सन्नाटे ।
किसी एक छत पर सूखती
ओढनी का वह निर्लक्ष्य आवेदन
वह तुलसी के बिरवे वाली सूनी मुँडेर
जिस पर जाने कब ढाले गये
बेबस आंसू भीने, कुतल-छाये गाल का,
अन्तहीन आत्मार्पण, छूटा हुआ
सूनापन :
निरन्तर मुँडेर के गले मे शेष रह गया
किसी बांह की छटपटाती फासी का
बंधन ।

सहजन की फलियो के झाड पर
एकाकी फुदक रही गिलहरी —
किसी की कसीदा काढती
आंखो के तल्लीन रामो मे
अनटपके आँसू की हडी-सी लटकी
रह गयी ।
गिलाफ के कसीदे मे अनजाने ही
झाड और मदरी की मर्म-कथा कढ
गयी ।

पडोस की सदा बद रहनेवाली खिडकी
अचानक ही खुल पडी ·
औचक ही एक बांह ने वहाँ से
फैलकर,
अभी हाल फाडी हुई चिट्ठी के टुकडे
बाहर फेंक दिये
बरसाती हवा से फुहार भीने दामन ने
उन अनाम अनाथ शिशुओ को
अकारण ही समेट लिये ।

पीछे खिस्ती मोहल्ले की सडक के
किनारे,
फालसई परदो वाले अपने सूने
बरामदे में,
आराम कुर्सी पर पडी एनी है ऊँघ
रही .
'प्रोहीबीशन' के सूने वीराने रेगिस्तान
के
इस गोपन नखलिस्तान मे
आज कोई भी फिल्मी दुनिया का रिद

घटा की इस दुपहर को आवाद करने
आया नही !
सिर्फ घर का पालतू कुत्ता 'टॉमी'
एनी की पिंडली से गाल सहलाते
हुए थकता नही !

सडक की दूसरी ओर
इमली की छाँव मे दूकान लगाये बैठा
हरिया चमार, पुराने जूतो के चमडे
से
नयी चप्पल बनाने के कौशल मे है
लवलीन
(घर और घरवाली उसके हैं नही
कोई !)
काम करते-करते अनायास ही
एनी की पिंडली को दुलराते टॉमी की
आत्मा मे हो गया है वह अ तर्लीन
कि देखें उसकी चप्पल खरीदने को
आज शाम
मोहल्ले की कौन-सी कमसिन लडकी
आती है.. ?
लेकिन अचानक ही सुनसान सडक का
यह अ तहीन अजगर रह-रह कर--
जाने कहाँ डँस जाता है उसके भीतर,
बहुत भीतर

आज इस बदली की विजन दुपहरिया मे
उस दूर की लाल माटी की पहाडी
पर,
एकाकी झाड तले, एकाकी मदरी
दुष्यंत ने खो दी है शापवश शकु तला
की मुँदरी
जाने किन भूली यादो की अतलात
घाटियो मे
गिर पडी है चिरतन मिलन की
चिंतामणि ।
कि हर राह, चौराहे, द्वार,
खिडकी, आँगन मे,
प्रश्न वन पथरायी मन-मन की
सु दरी ।

❀

डॉ० शम्भुनाथ सि ह

दिगन्वेषण

वे दिशाएँ भी हमारी हो
जिधर से हम नही गुजरे कभी
नही बाँधा जहाँ की
उजली किरण से मुकुट,
वहाँ की भी हर कली,
हर पखुडी, हर गध
अपनी हो,
सगी हो !

वे दिशाएँ भी हमारी हो
जहाँ की अनसुनी आवाजें
हवाओ पर छोडकर पदचिह्न
अनदिखी ही चली जाती हैं,
जहाँ के अनमोल सपने
जिन्दगी के सत्य को
सार्थक बनाते हैं,
उन दिशाओ की सभी सुनसान गलियाँ,
अरौंदी राहे, अछूती हवा

अपनी हो,
सगी हो!

वे दिशाएँ भी हमारी हो
काल का वह अश्व अधा जहाँ
नीले गगन के अस्वत्थ के
नीचे बँधा है। पाँव से जो
नयी धरती खूँदता है।
जहाँ दिन-रात, घड़ियाँ, पल-विपल
आकर लहर-से लौट जाते हैं!
जहाँ के चाँद-सूरज
नही उगते नही छिपते . ...
वहाँ की भी
अँधेरी चाँदनी,
काली धूप,
उजली छाँह
अपनी हो,
सगी हो।
वे दिशाएँ भी हमारी हो!

कुँवर नारायण

ईमान की बात

आदमी हो या देश हो
हमारे कोई भी, वेश हो,
बाहर से नैतिक
अन्दर से राजनैतिक,
हमारे भी उनके भी अपने उसूल है
जो कि रोजमर्रा मे बिल्कुल फ़िजूल हैं,
इससे क्या मतलब कि नारा क्या है
सवाल है कि ज़िंदगी का सहारा क्या है?—
सच मे आसक्ति एक बहुत बड़ी गलती है
ज़्यादा ईमान से दूकान नही चलती है!

आग्नेय

स्वर्ण-द्वीप खोजनेवाले यात्रियो का गीत

हमारे जलयान
पोत
डोंगियाँ
सब अंधी हो गयी
जल-पाँखो देखे बिना।
हमारे आशीष डूब गये।
हमारी आस्थाएँ चिथ गयी।
हमारे पराक्रम
टूट गये।
ओ तटो की अनथकी —
अनदेखी प्रतीक्षाओ!
तुम भी अंधी हो जाओ!
तुमने
जिन्हें लौट आने को कहा था,
वे भी डूब गये।
ओ तटो की अनथकी—
अनदेखी प्रतीक्षाओ!
अब तुम भी डूब जाओ!

जिससे तुम
हमारी फूली, सूजी,
तट लगती लाशे न देख सको !
हमारे पाँव,
अँगुलियाँ,
हाथ
सब गल गये
धूप-पाँखी देखे बिना।
हमारे साहचर्य्य
हिम-नदियो मे बिला गये।
हमारे अदेखे सत्य
हिम-कुंडो मे सिरा गये।
हमारे सामर्थ्य
हिम-पठारो पर झर गये।
ओ हिम-पथो की एकाकी
अंतहीन यात्राओ।
तुम भी गल जाओ !
तुमने
जिन्हें चलने को कहा था
वे भी गल गये।
ओ हिम-पथो की एकाकी
अंतहीन यात्राओ !
अब तुम भी सिरा जाओ !
जिससे तुम
हमारे गले चेहरे
हमारी हिम-अस्थियाँ न छू सको !
हमारे कनेर,
गुलमुहर,
गुलबाँस
सब झर गये
मेघ-पाँखी देख बिना।
हमारे समर्पण
धूप के जल से मुरझा गये।
हमारी प्रार्थनाएँ
डूबते क्षण, बुझा गये।
हमारी अँजुलियाँ
साँपो के फूल, चढा गये।
ओ तुलसी की आर्द्र डूबी।
रुआँसी आस्थाओ !
तुम भी झर जाओ !
तुमने
जिन्हे हरियाने कहा था,
वे भी मुरझा गये।
ओ तुलसी की आर्द्र डूबी,
रुआँसी आस्थाओ !
तुम भी पीली हो जाओ !
जिससे तुम
हमारे अधलिपे आँगन के
टूटे तुलसाने
उगती नागफनी न देख सको !

रामावतार चेतन

आमो की फसल

कब की मस्त बहार आ चुकी
बौरी अमराई के कच्चे आम पक चले
और तुम्हारी राह ताकते

नयन थक चले।
शायद यह गदरा' । मौसम
अंतिम बार इधर आया है।
लेकिन, पछुवा के झोको में
सांस तुम्हारी नही महकती
'थोडी देर और है'
कल के खत ने फिर यह दोहराया है।
इस आश्वासन मे ज्यादा
तुम और भेज भी क्या सकते हो ?
क्योकि यही तो ब्रह्मवाक्य है
कामदिलाऊ आशाओ का।

आधे चौथाई रह कर भी
इसी आस पर जीते होगे,
मुझसे ज्यादा
तुम अपने नयनो के पथ से रीते होगे।
मैं तुमको पाऊं,
तुम मुझको —
इससे भी जो अधिक सत्य है -
वह है एक सहारा पाना

मुंदी और भरी काया का,
सिर-छाया का,
वही हमारे मिलने को सार्थकता देगा।

भले यही सार्थक होने मे
चाहे आम पकें,
झड जाएँ,
ऋतुराजो के स्वाद
सदा के लिए भले फीके पड जाएँ।

राजा दुबे

स्वप्न और उसके पश्चात

नसो मे घुलता हुआ नीला ज़हर
पिडलियो मे दर्द-ऐंठन
मस्तिष्क जैसे पहाड
पसीजती जिह्वा, अवरुद्ध कठ
टूटती कमर
उखडते जोड-जोड
रोम-राम दुखता-सा
और दूर-दूर तक
कोई गाँव नही
पत्ते तक की छाँव नही
बस रेत और रेत और रेत का
फैलाव ..

सिर पर सूर्य
टीकाटीक दोपहरी
लू-लपट बहुत ही गहरी

किंतु ऐसे मे एक साँप--शायद अजगर ?
अपना मुँह फाड, जीभ लपलपाता,
सांस खीचता है।

भागता हूँ भयाक्रात पाँव नही उठते।
चीखता-चिल्लाता हूँ
लेकिन शब्द नही निकलते ; उच्चारण
मर जाते हैं
एक चुबकीय खिंचाव और मैं

हाँफता-काँपता पसीने-पसीने
कहाँ-कहाँ होता हुआ अरे !
साँप के पेट मे आ जाता हूँ !

अँधियारा एक गुफा
वर्षों से खाली
कही कोई सूराक नही, छेद नही !

फिर आहिस्ता-अहिस्ता
वह रेंगता हुआ
एक विशालकाय बूढ़े बरगद से
लिपट-लिपट जाता है !

मेरी हड्डियाँ चिटक-चिटक जाती हैं !
वाँचा तो खुलती है
पर नीद उचट जाती है !

❦

नागार्जुन

तन गयी रीढ !

झुकी पीठ को मिला
किसी हथेली का स्पर्श
तन गयी रीढ !
महसूस हुयी कधो को
पीछे से किसी नाक की
सहज-उष्ण निराकुल साँसें
तन गयी रीढ़ !
कौंधी ,कहीं चितवन
रँग गये कहीं किसी के होठ
निगाहों के जरिए जादू घुसा अंदर
तन गयी रीढ !
गूँजी कही खिलखिलाहट
टूक-टूक होकर छितराया सन्नाटा
भर गये कर्ण-कुहर
तन गयी रीढ !
आगे से आया
अलकों के तैलाक्त परिमल का झोका
रग-रग मे दौड़ गयी बिजली
तन गयी रीढ !

❦

श्रीकान्त वर्मा

गूँगा बिरवा

मैं जो अनबोए उग आता हूँ ।
एक बार फिर कुचला जाकर भी
तुम्हारे घर आँगन के
अँधियारे कोने मे

सहसा उग आऊँगा ।
अपनी उपस्थिति से तुमको चौंकाऊँगा ।
मैं अनबोया, अनपोसा, अनबोला
गूँगा बिरवा हूँ,
थूहड़ या बबूल या अडी
या कुछ भी बन,
समय-समय पर
धरती की झिल्ली फाड़ निकल
आता हूँ ।

मुझको कुचलो अपने भारी भरकम
फौजी बूटों से !
मुझ पर पत्थर रख दो
या पहाड़ से लुढका दो।
मेरी जड़ मे मट्ठे की नदियाँ उंडेल
कर दो
मुझको उखाड़ कहीं फेंको
अंधकार के अनंत एक गह्वर मे।
मैं फिर उग आऊँगा।
तुम्हारे सीने मे एक काँटे की तरह
कसक जाऊँगा।
मेरी जड़ तुममे है।
तुम्हारा ही लहू पाकर, जहाँ भी जगह
पायी
झंडे की तरह
गड़ रहा हूँ मैं।
तुम्हीं से, तुम्हीं मे और तुम्हीं से—
तुम्हीं से लड़ रहा हूँ मैं।
मुझ पर अपने पहिये जाने दो।
मुझे चीखने दो, चिल्लाने दो।
चिथड़े चिथड़े होकर मेरी छायाएँ यदि
बिललाती है, तो बिलखाने दो।
यह तो युद्ध की पहली, पहली ही
किस्त है-
अगले पड़ाव पर
तुम्हें मैं फिर मिल जाऊँगा।
जूझूँगा,
उखड़ूँगा, फिर जड़ें जमाऊँगा।
मैं दूर जड़ हूँ,
अवसर की पिंडली चूस-चूस कर
मैं जी जाऊँगा।

वंश के लिए अनंत युगों तक लड़ूँगा मैं।

अनचाहा, अनपाला
काँटे की तरह तुम्हें सर्वदा गड़ूँगा मैं।

गजानन माधव मुक्तिबोध

एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्म-कथन

दुःख तुम्हे भी है,
दुःख मुझे भी।
हम एक ढहे हुए मकान के नीचे
दबे हैं।
चीख निकलना भी मुश्किल है,
असंभव
हिलना भी।
भयानक है बड़े-बड़े ढेरों की
पहाड़ियों-नीचे दबे रहना और
महसूस करते जाना पसली की भग्न
अस्थि।
भयंकर है छाती पर वजन टीलों
का रखे हुए
ऊपर के जड़ीभूत दबाव से दबा हुआ
अपना स्पंद
अनुभूत करते जाना,
दौड़ती रुकती हुई धुकधुकी
महसूस करते जाना भीषण है।

वाह ! क्या तजुर्बा है !!
छाती मे गड्ढा है !!

पुराना मकान था, ढहना था, ढह गया,
बुरा क्या हुआ ?
बडे-बडे दृढाकार दभवान
खभे वे ढह पडे !!
जड़ीभूत परतो मे, अवश्य, हम दब गये।

हम उनमे रह गये ,
बुरा हुआ, बहुत बुरा हुआ !!
पृथ्वी के पेट मे घुसकर जब
पृथ्वी के हृदय की गरमी के द्वारा सब
मिट्टी के ढेर ये चट्टान बन जाएँगे,
तो उन चट्टानो की
आतरिक परतो की सतहो मे
चित्र उभर आएँगे
हमारे चेहरे के, तन-बदन के शरीर के ,
अंतर की तसवीरें उभर आएँगी,
सभवत ;
यही एक आशा है कि
मिट्टी के अँधेरे उन
इतिहास-स्तरो में तब
हमारा भी चिह्न रह जाएगा ।

नाम नही,
कीर्ति नही,
केवल अवशेष, पृथ्वी के खोदे हुए
गड्ढो मे
रहस्यमय पुरुषो के पंजर और
जंग-खायी नोको के अस्त्र !!

स्वय की जिदगी फॉसिल कभी
नही रही,
क्योकि हम बागी थे,
उस वक्त,
जब रास्ता कहाँ था ?
दीखता नही था कोई पथ ।
अब तो रास्ते ही रास्ते हैं ।

मुक्ति के राजदूत सस्ते हैं ।
क्योकि हम बागी थे,

इसीलिए कहते हैं—
आखिर, बुरा क्या हुआ ?
पुराना महल था,
ढहना था, ढह गया ।
वह चिड़िया,
उसका वह घोसला...
क' जाने कहाँ दब गया,
चहचहाना भी दब गया ।
अँधेरे छेदो मे चूहे भी मर गये,
हमने तो भविष्य
पहले कह रखा था कि
केंचुली उतारता साँप दब जाएगा
अकस्मात् ,
हमने तो भविष्य पहले कह रखा था ।
लेकिन अनसुनी की लोगो ने ।
वैसे, चूँकि
हम दब गये, इसलिए
दु ख तुम्हें भी है,
मुझे भी ।

नक्षीदार कलात्मक कमरे भी ढह पडे,
जहाँ एक ज़माने मे
प्रणय-निवेदन मे
चूमे गये होठ,
छाती जकडी गयी आवेशालिंगन मे।
पुरानी भीतो की वास मे मिली हुई
एक महक
तुम्हारे चुंबन की,
कहानी का अगारी अंग-स्पर्श
गया, मृत हुआ !!
हम एक ढहे हुए
मकान के नीचे दबे पडे हैं।

हमने पहले कह रखा था महल गिर
जाएगा।
खूबसूरत कमरो मे कई बार,
हमारी आँखो के सामने,
हमारे विद्रोह के बावजूद,
बलात्कार किये गये
नक्षीदार कक्षो मे।
भोले निर्व्याज नयन हिरनी-से
मासूम चेहरे
निर्दोष तन-बदन
दैत्यो की बाँहो के शिकजो मे
इतने अधिक
इतने अधिक जकडे गये
कि जकडे ही जाने के
सिकुडते हुए घेरे मे
दबते-पिघलते हुए एक भाप बन गये।
एक कुहरे का मेह,
एक घुमैला भूत,
एक देह-हीन पुकार,
कमरे के भीतर और इर्द-गिर्द
चक्कर लगाने लगी।
आत्म-चैतन्य के प्रकाश—
भूत बन गये।

भूत बाधा-ग्रस्त
कमरो की अंध-श्याम सांय-सांय
हमने बतायी, तो
दण्ड हमी को मिला,
बागी करार दिये गये,
चाँटा हमी को पडा,
बंद तहखानो मे-कुओ मे फेंके गये
हमी लोग !!
क्योंकि हमे ज्ञान था,
ज्ञान—अपराध बना।

महल के दूसरे
ओर-ओर कमरो मे कई रहस्य–
तकिये के नीचे पिस्तौल,
गुप्त ड्रावर,
गद्दियों के अदर छिपाये-सिये गये
खून-रँगे पत्र, महत्त्वपूर्ण ।।
अजीब कुछ फोटो !!
रहस्य-पुरुष-छायाएँ
लिखती बैठी हुई हैं
अजीब इतिहास इस महल का
अजीब सयुक्त परिवार है—
औरतें व नौकर और मेहनतकश

इतना तुम्हारा वेग !
ग्राँखो मे न ग्रा पाता ।

सत्य !
तुम्हे देखा है :
उडते हुए यानो पर
सडको पर घटो हूँ बाट जोहता रहा,
पर मुझको ग्रनदेखे
वार-बार ग्राँखो मे धूल झोक चले गये ।

सत्य !
तुम्हें देखा है
जनता के मचो पर चिंचियाते
गला फाड-फाड कर ग्रपनी करनी गाते,
तुम तक जब जाने की कोशिश की
हँस कर, एहसान बडा बरसा कर
तुम पल्ला झाड कर चले गये ।

सत्य !
बार-बार ऐसा लगा है मुझको
सौरभ की साडी-सी पहने तुम
मेरे ग्रगो पर सिहरन भरते
निकल गये,
ग्राँचल का छोर मेरी काँपती
उगलियो को
क्षण भर उलझा
ग्रागे फिसल गया ।

लेकिन ग्रो सत्य !
जब-जब मैने तुमको देखा है
साँझ के झुटपुटे मे

ग्राँखो मे एक वेबसी का परिवार भरे
घुटनो पर माथा टेके बैठे
फटा हुग्रा दामन फैलाये—
हाटो मे, चौरस्तो पर

रेस्त्राँ की चाय मे डुबोते हुए
लावारिश दर्दों को,

मूक बस्तियो के वीरानो मे
हाँक लगाते खोये गीतो को,

स्वप्न बेंच कर श्मशान-यात्री से
वापस जाते घर को,

ग्राह ! ग्रात्म-हत्या के पहले
उठते-गिरते मानसिक बवडर मे
फटी-फटी ग्राँखो से ग्राखिरी विदा लेते,

गिर-गिर कर फौलादी हाथो से
तोडते हुए बजर की परतें
सूनी ग्राँखो से झरते सनेह
झर-झर-झर,

पतझर सम ग्रोठो से
शिशुग्रो के मस्तक पर
चुबन बरसाते थर-थर-थर,

माथे पर वोझिल ग्रनगिन रेखाएँ सभाल
उर के रंग-रस निचोड
जडता को गढते सुन्दर शिव की
प्रतिमा मे,

तब ग्रो सत्य !

मेरी आत्मा चिल्लाई है—
यह तो बस
मैं ही हूँ...
मैं ही हूँ...
मैं ही हूँ ।

*

दुष्यंत कुमार

एक साहचर्य

मुझे बतलाओ कि क्या ये जलाशय
मेरे हृदय की वेदना का नही है प्रतिरूप
मेरे ही विफल व्यक्तित्व की—
अवशिष्ट सुधियाँ नही ये तट पर
खडी तरु-पाँति
और ये लहरे तडफती जो कि प्रतिपल
क्या नही तट के नियत्रण मे बँधी
इस भाँति
ज्यो परिस्थिति मे बँधे हम विवश
घोर विफल ।

*

उपेन्द्र नाथ अश्क

सपने मे

रात सपने मे कहीं देखा—
खिला गुलमोर
फैली डालियाँ रतनार
गुच्छे लाल फूलो के
खिलडंरे बालको-से
कूद कर उस हरे छाते मे, उचककर
देखते हर बार
फैली कीकरी को,
नकल मे गुलमोर की जो,
छा रही चारो तरफ
अनगिनत ताने छतरियाँ—हद्दे-नजर
तक ।
बाँझ पर—लाये कहाँ से लाल गुच्छे
फूल-बालक ?
है किनारे कही तापस-सा खडा
चुपचाप
पीली लटकती
दाढी हिलाता
दर्द से ज्यो मुस्कराता—
उदास
अमलतास ।

*

कान्ता

यो तो

यो तो आज इस सडक पे
बडी भीड है, रेल-पेल है,
हँसती-रोती मुद्राएँ है,
किन्तु मैं
जैसे सर्वथा एकाकी
भीड के समवेदन से अनछुई, दूर—
जीवन से छूट रही हूँ,
छूट ही गयी हूँ ।

श्रोर बडा दर्द है--
सेतु-मुक्त, अनभेजा।

पर किस से कहूँ दर्द यह ?
लगता है,
तमाशा न बन जाए।

फिर, मैं तो रेत हूँ
बेज़ुबाँ
निदाघ का ताप सहती; --
हल्की-सी जलन का दे अनुभव
पैरो से झड जाती हूँ।

मलयज

शापित पीढ़ी के नाम

मौसम सुहाना है
सूर्य छीलता आता है पहाडियो के
अध-जगे अहसास,
प्रतिश्रुत है रोम-रोम
टूटती है साँस—
'उजेले की पत्तियो उगो जल्द !
पिसो जल्द ! . मेहदी के बेलबूटो
सजो जल्द !'
—खडा कब से
वह बुलाता क्षितिज है अपना

कि निशा को खोकर हम
मचलें तो सही
कि हम तो वहाँ देखेंगे सुहाने मौसम
का सपना,—

कि खुल जाएँ ठिठकी मन स्थितियाँ
दिशाओ की
सबकी सबर छहर-छहर
रूप कुछ और छा जाएँ आँखो के
उत्सवो मे,
ध्वनियाँ कुछ और चचल हो,—
त्वरित-मौन !

अति अति दीन मन के शब्द-रध्रो के
तीव्र गधो के
पख-स्पर्श !—छद-छद—लहर-लहर !
..कि तन्मय विस्तार के कदली-
द्वीपो मे
हिम-मरकत की समुद्री-खिलखिलाहटो से
जन्मे एक बुलबुला-राजकुमार
साहसिक शिशु-कथा के मध्याह्न मे
एक अपना अलग इद्रधनुष रचे
गुनगुनाए··
इद्रधनुष को पँखुडियो गुदगुदाए .
फिर हँसते-हँसते
फूट जाए
एक नये समवाय के रग-सधान मे
क्योकि
मूर्त्तियो मे सज उठी हैं नयी प्रतिक्षाएँ
भगिमाओ मे रँग उठी है सुनहली
व्यथाएँ
ओठो पे दौड गये हैं चटख साए
गुलमुहर के
और जूझती हैं लिप्सा की रगारग
पत्तियाँ

हवा के कुहराम में,
और राग है कीचड़ में कमल तक
पंख खोल उठता हुआ,
और भँवरे हैं उद्दीपन-विभावों के
रस-वृत्तों पर
टूटते हुए,
और पल हैं : भावों के कोष दोनों हाथ
लूटते हुए

और एक तनहा बिंब है :
संवेदना का पुराना कर्ज़खोर !
गुनहगार !!
--अनंत सूद भरने को
(असंख्य काँटे चुनती हुई असंख्य मूर्त्तियाँ
लटकी हैं
एक अतीत आख्यान की व्यर्थता पर
खून के हस्ताक्षर करने को ।)

उन मुँडेरों पर चंद फूल खिले थे
जिसके आगे एक पथ बल खाकर
क्षितिज के नीले अंधेपन में डूब
जाता है .

बादलों की पट्टियाँ लगाए पहाड़ियाँ
अभ्यस्त हैं
उन यायावर-यात्रों की अकिंचनता
को जो
कौड़ियों के मोल सदा-बिका जाता है ..

[illegible]
[illegible]

रात का टूटा हुआ सिलसिला जोड़,
कहा---
'दिन की चुनौती से कटे-कटे
(महावत के अंकुश से बचे-बचे)
ऐरावतों के झुंड हम
जाएँगे कदली-द्वीपों को
अँधेरे की ममता से सटे-सटे
---देखोगे ?

और मैंने देखा :
चिड़िया चुप थी
घास चुप थी
ताल चुप था,
समय को आखेट कर लौटती थीं
मर्म की पछताती रेखाएँ...वे अपशकुन
छायाएँ !
और मुझे बरबस याद आता था
दो रंगी आँखों का पिंजड़े में चहक-
चहक गाना
चने के कुछ दानों पर,
एक मसली हुई हथेली
जिसके लकीरों के छूने की बन चुकी
थी याद
और (आह !) याद आया एक
बिंधा-हुआ हृदय का ताल
जो जल बिना प्यासा था
और मौसम सुहाना था
[illegible]
के पार
[illegible]

दवाए
एक पीढी शापग्रस्त खडी है

रूपायित मदाक्रांता का एक हठीला
मेघ–छद
उडता-उडता आया
और इक उम्र के पतझरो को चिढाता
हुआ
पके-अनुभव की दुखती ईमानदारी को
ठेंगा दिखाता हुआ
बरसकर चला गया
देह के निथुरे वसतो मे
नगे इ द्रधनुषो के उत्कट आलिगनो से
कुसुमित चु'बन की विभोर गुनगुनाहटो से
उठा एक ज्वार
जो ठू ठे सयम की जडे हिला गया

कुछ ऐसा हुआ
कि मौसम सुहाना था
मन के बासी उफानो के सग्रहीत चित्रो
मे एक नया भाव आ गया

हरे-हरे तोतो की टोली।—
(मुट्ठी-मुट्ठी वचायी गयी आशा !)
जगल की तरु-बाँहो को उडना सिखा
गयी ।

साथ नयन भी मुडे
आकाश की उस विछी शतरज की
ओर, कि
विस्मृति के पिटे हुए चद मोहरे
गिरती साँझ की झोनी मे
कही तो पडे होगे ।
यहाँ वहाँ वदलियो की राख,
सितारो की नीलम-सीढियो पर
अपने वे अतिशय अनहोने आकार
कही तो खडे होगे !!
पर होठ चबाती सुर सु दरियाँ आलिगनो
के पाश से
ऊब गयी—
नग्नता के सारे खिलवाड अब महज
खीझ उपजाते थे,
और तथाकथित उस अश्लील चित्र-सा मै
जो हर दर्शनार्थी की उत्त`जना के
बोदेपन का साक्षी था
अन्य-दिवसी उत्त`जना की प्रतीक्षा तले
दब गया

साँझ के वशीकरण
गुमनाम पुतलियो पर
मृत्यु चिह्नो से जड गये,
हत-श्री सज्ञा
हाथों के वे हरे-हरे तोते न जान कब
उड गये

पीठ पर लादे हुए चिंताओ के
सूने कैन्वास
मे लौट आया
व्यर्थ ही मन के बासी उफानो मे नया
भाव आया
चित्र नही
एक भूली बिसरी मुद्रा, एक अघवनी

कविता, एक खंडित गान !
—कहाँ है आत्म-साक्षात्कार की वह
वेगवती गंगा
जिसे परंपरा की किताबों में दर्ज
वह बहुश्रुत भगीरथ खींच लाया ?—
वह कैसा मौसम सुहाना आया ?

पहाड़ियों के उस पार खड़ी ओ शापित
पीढ़ी !
मैं तुझे क्या भेजूँ सौगात ?
· कदली-द्वीपों का भटका, बावरा
पहाड़ी के कूबड़ पर
वह चांद
अस्थि-शेष ··तराशे हाथी-दांत का !
ममता का कुचला हुआ सोनीला रंग
डँसे है इसे
पूरा का पूरा !

ओ शापित पीढ़ी !
मैं तो स्वयं हूँ विकलांग, खंडित, अधूरा
मत लो
एक शाप और लो

सौंदर्य की नग्नता में गर्भगृह में केवल
स्तंभ होंगे
धारणशील, किसी जर्जर सत्य के,
संवेदनाएँ गूँगी होंगी बधिर प्राचीरों के
धूमिल नगरों में,
मुक्ति होगी उत्तर से पंगु
केवल अकर्मक क्रियाओं का पुंजीभूत
पतन !

एक दुर्निवार करुणा सिर धुनेगी
कटे हुए हाथों, नुची हुई आँखों,
मुकुटहीन मस्तकों के नाम !
हर यात्री खाली हाथ लौटेगा
सुहाने मौसम में

सौंदर्य-बोध की वह सारी चाटुकारिता
एक दंश में सिहरेगी..
और एक वध्या दर्द की चीत्कार गगन
की छाती का
सादया तक दलेगी ।

भारत भूषण अग्रवाल

अगत्या

लहरा कर छोटे-से ताल को
संयोगवश
जो पुरवैया गयी
और लौटी नहीं,
उससे मेरा एक छोटा-सा प्रश्न है .

ताल तो अपनी अगति में विवश था,
पर ओ री !
क्या तुम अपनी गति में भी विवश थीं ?

डॉ० जगदीश गुप्त

शुक्ल-नाम-स्तव

जग युग के सिया- राम !
सुधा-धाम !

सियाराममय सब जग जान कर
मैं भी करता प्रणाम !
ओ अनादि ! ओ अनंत !
जीवन के नग्न रूप, आदि अंत !
गुप्त प्रकट, सूक्ष्म-स्थूल,
ओ अगाध ! ओ अकूल !
आदि प्रकृति ! आदि पुरुष !
ओ भूमा ! ओ विराट् !
पृथिवी को शीश धरे व्यालराट् !
आँख-कान-हीन दीन संस्कृति के
नाद-बिंदु !

क्षत-विक्षत,
विग्रह-रत,
युद्धोद्धत
मानव के तिमिर-ग्रस्त चिंतन के
भानु-इंदु !
यंत्र-बाहु, यंत्र-चरण, यंत्र-हृदय,
यंत्र-बुद्धि,
सब कुछ यंत्रित केवल इच्छाएँ
अनियंत्रित
अहोरात्रि, सुबह-शाम ।
क्षुधा-काम ।
जयति क्षुधे !
दीपित जिसका माथा
रक्त-मांस-मज्जा के दाह से ।
भू.. ख, भू.. ख
अवनी-अंबर-वाधो ध्वनियों से
विरचित जिसकी गाथा ।
जठर-ज्वलित काया को घेर कर
बज उठती आँतों की किंकिणी ।
पट्रस का राग मुखर, ग्रास-रास-
रंगिणी ।
अपने ही अंडे खा जाने वाली भुजगी,
खिंची नसों वाली चामुंडा की प्रतिमा-सी
आमाशय-वासिनि ! भासिनि वहुवे !
जयति हुताशनतनये, जयति क्षुधे ।

जयति काम !
सृष्टि के विधायक, नायक, रतिपति !
गलित मुंड, पलित देह—
श्वान-सदृश शुनि के पीछे धावित ।
कुंठित अवचेतन-उपचेतन के
गहरे नीले जल में
तैर रही सतरंगी वासना-मछलियाँ
जिसका केतन
गुह्य-द्वार अंगों के उत्पीडन,
फिर भी ःापित अनंग !

चढ़ी हुई चंचरीक-प्रत्यंचा वाला
धनु-कुसुम तान,
करते आखेट स्वप्न-मधुऋतु में,
पंचवाण !
अश्वों- सी सबल चपल इंद्रियाँ
खींचती तुम्हारा रथ ।
ओ मनोज ! ओ मन्मथ !
सुकृत-पुरुष ! विकृति-धाम !
जयति काम !
अमित रूप, अमित नाम !
इस युग के सियाराम !
क्षुधा-काम !

किशोरीरमण टंडन

छुट्टी

आज का दिन बेहद सूना-सूना है
और मौसम उदास-उदास।
उसका मन गुमसुम-सा है।
चुपचाप आँखें मूँदे लेटी है।
बेढन्टी पडी- पडी वर्षा हो रही है,
कमरे मे धूप भरती जा रही है,
घडियाल मे टन-टन करके नौ बज रहे हैं।
पर उसके दरवाजे पर-
वह चिर परिचित स्वर
नहीं आएगा
(किर . किर्रर. किर्रर— तीन
नन्ही घण्टियो का स्वर)
वह जो केवल उस डाकिये का है!
आज डाकखाना बन्द है!

ओंकारनाथ श्रीवास्तव

भरी हुई बोतल

भरी हुई बोतल हाथो से गिर कर टूटे,
तब हरगिज़ यह नहीं कहो-
"सर्दी है आज विकट
बजते हैं दाँत
हड्डियाँ काँप रही है।"

और फर्श पर फिसल जाए जब पाँव,
दोष मत दो वर्षा को,
कहो नहीं-
"छत टपकी है
सीलन कमरे भर मे व्यापी है!"

छद नही जब जुड़े,
कहानी हो न सके जब पूरी,
तब न कहो-"युग विशृ खल है,
विघटन का युग-
कवि की कितनी मजबूरी है,
स्वर विह्वल है।"

यह सब मन का असतुलन है।
मौसम का क्रम स्वाभाविक है,
युग की अपनी चाल सहज है।
सावधान होकर थामो हाथो के बर्तन,
सँभल-सँभल कर पग रखो धरती पर,
भावो को सहज छदो मे बाँधो,
कथा अधूरी नहीं रहेगी,
और कल्पना साधो।

९६

भावी कविता

लक्ष्मीकात सिनहा के निम्नलिखित प्रश्नो का उत्तर :

१ क्या कविता के भविष्य पर गद्यात्मक प्रभाव बढता जाएगा ? लयहीनता के साथ–साथ बौद्धिक नीरसता बढेगी ?

२ भविष्य मे कवियो की व्यक्तित्व-विभिन्नताएँ बढे गी ? छोटे-छोटे विचार-मत अधिक होगे और काव्य की परिभाषा जटिल होती जाएगी ।

३ परम्परा की मान्यताओ से दूर होकर कविता समस्त परम्परा संकेतो को भी त्याग देगी जिसका परिणाम काव्य की उपेक्षा और ह्रास होगा ?

४ एक प्रकार से भावी कविता मानवीय लक्ष्यबोध की कुंठा का पर्याय ही बनेगी ?

प्रश्नों के उत्तर देने के पहले मै भावी कविता की भूमिका रूप नयी कविता के सबध मे अपनी कुछ मान्यताओ को भी रखना चाहता हूँ ।

प्रत्येक युग की कविता के समान वर्त्तमान युग की नयी कविता का भी अधिकाश, समय के प्रवाह मे विलीन हो जाएगा । यद्यपि समसामयिक स्थिति के कारण नयी कविता की चर्चा करते समय हमारे सामने इस सैलाब का सारा विस्तार ही आ जाना स्वाभाविक है, पर हमको इस युग की कविता के सम्बध मे कुछ भी धारणा बनाने मे उत्कृष्ट तथा वास्तविक कविता से दृष्टि न हटाना चाहिए ।

समस्त युगो की उत्कृष्ट कविता के समान ही आज की भी उत्कृष्ट कविता युग जीवन की उपलब्धि है । यह उपलब्धि चाहे कितनी ही अपने सक्रातियुगीन मूल्यो मे अस्थिर अथवा विक्षुब्ध क्यो न हो । जो यह मानते है कि वर्त्तमान युग की नयी कविता मे काव्य-तत्त्व नही है, उनसे मेरा मतभेद है ।

युगो के साथ काव्य की मान्यताओ मे परिवर्तन हुआ है, जीवन के मूल्यो के साथ काव्यगत मूल्यो का बदलना स्वाभाविक है। फिर आज की आधुनिकता के संदर्भ मे तो मैं मानता हूँ कि काव्य तथा साहित्य की मौलिक भावना मे अंतर आ गया है। आज काव्य अथवा साहित्य, पाठको के लिए रस-बोध की स्थिति नही है, पाठक काव्य के द्वारा कवि की सर्जन-प्रक्रिया का सक्रिय सहयोगी होना चाहता है। यह साहित्य के क्षेत्र मे नयी दृष्टि है और इसके कारण इसके साथ युगो से जुडी हुई मनोरंजन की भावना एकदम अस्वीकृत हो रही है।

मैं यह स्वीकार नही करता कि काव्य का पद्यात्मक शैली से कोई आन्तरिक अथवा तात्त्विक संबंध है। यदि पद्य और छद को पर्याय की तरह माना जाए, तो भी कठिनाई कम नही होती। भारतीय छद-शास्त्रो मे छंदो का जो विस्तार है, वह इतना अद्भुत है कि उसके अन्तर्गत क्या कुछ नही आ सकता है। और भारतीय साहित्य मे काव्य शब्द भी बहुत व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है उसका सम्बन्ध पद्यात्मकता से अनिवार्य नही माना गया है।

अत जिसे हम परम्परा से छद अथवा लय मानते आये है, वही आगे भी छद और लय माना जाना चाहिए, ऐसा आग्रह उचित नही है। मै यह नही मानता कि आज की कविता छदहीन अथवा लयहीन है और न यह मानने के लिए तैयार हूँ कि आगे की कविता ऐसी होने जा रही है। आज की कविता की अपनी लय है और अपना ही छद-विधान है। प्रत्येक युग का काव्य अपने ही युग का छद आविष्कृत करता है और अपनी ही लय स्वीकारता है। आगे आनेवाली कविता अपने युग के अनुरूप छंद-लय ग्रहण करे तो इसमे आश्चर्य क्या ? पिछले युगो की परम्परा की रूढियो को ढोनेवाले आलोचक यदि युग की आत्मा को बिना पहिचाने अपने जड संस्कारवश आज की कविता को गद्य मात्र समझें अथवा भविष्य मे आनेवाली कविता के प्रति अविश्वास प्रकट करें, तो यह उनकी अपनी दृष्टि का दोष है। यह हो सकता है कि आधुनिक युग का संस्कार, अपनी विभिन्न तत्कालीन स्थिति के कारण पिछले युगो से अत्यधिक भिन्न लगता हो और इसके कारण आज की कविता की भाषा और शैली मे, छद-लय के विधान मे पिछले युगो से बहुत अन्तर है। इसी अन्तर को न समझ पाने अथवा न पहचान पाने के कारण हम

भावी कविता

लक्ष्मीकांत सिनहा के निम्नलिखित प्रश्नो का उत्तर :

१ क्या कविता के भविष्य पर गद्यात्मक प्रभाव बढता जाएगा ? लयहीनता के साथ–साथ बौद्धिक नीरसता बढेगी ?

२ भविष्य मे कवियो की व्यक्तित्व-विभिन्नताएँ बढे गी ? छोटे-छोटे विचार-मत अधिक होगे और काव्य की परिभाषा जटिल होती जाएगी ।

३ परम्परा की मान्यताओ से दूर होकर कविता समस्त परम्परा संकेतो को भी त्याग देगी जिसका परिणाम काव्य की उपेक्षा और ह्रास होगा ?

४ एक प्रकार से भावी कविता मानवीय लक्ष्यबोध की कुंठा का पर्याय ही बनेगी ?

प्रश्नों के उत्तर देने के पहले मैं भावी कविता की भूमिका रूप नयी कविता के सबध मे अपनी कुछ मान्यताओं को भी रखना चाहता हूँ ।

प्रत्येक युग की कविता के समान वर्त्तमान युग की नयी कविता का भी अधिकाश, समय के प्रवाह मे विलीन हो जाएगा । यद्यपि समसामयिक स्थिति के कारण नयी कविता की चर्चा करते समय हमारे सामने इस सैलाव का सारा विस्तार ही आ जाना स्वाभाविक है, पर हमको इस युग की कविता के सम्बध मे कुछ भी धारणा बनाने मे उत्कृष्ट तथा वास्तविक कविता से दृष्टि न हटाना चाहिए ।

समस्त युगो की उत्कृष्ट कविता के समान ही आज की भी उत्कृष्ट कविता युग जीवन की उपलब्धि है । यह उपलब्धि चाहे कितनी ही अपने सक्रांतियुगीन मूल्यो मे अस्थिर अथवा विक्षुब्ध क्यो न हो । जो यह मानते है कि वर्त्तमान युग की नयी कविता मे काव्य-तत्त्व नही है, उनसे मेरा मतभेद है ।

युगो के साथ काव्य की मान्यताओ मे परिवर्तन हुआ है, जीवन के मूल्यो के साथ काव्यगत मूल्यो का वदलना स्वाभाविक है। फिर आज की आधुनिकता के सदर्भ मे ता मै मानता हूँ कि काव्य तथा साहित्य की मौलिक भावना मे अतर आ गया है। आज काव्य अथवा साहित्य, पाठको के लिए रस-वोध की स्थिति नही है, पाठक काव्य के द्वारा कवि की सर्जन-प्रक्रिया का सक्रिय सहयोगी होना चाहता है। यह साहित्य के क्षेत्र मे नयी दृष्टि है और इसके कारण इसके साथ युगो से जुडी हुई मनोरजन की भावना एकदम अस्वीकृत हो रही है।

मै यह स्वीकार नही करता कि काव्य का पद्यात्मक शैली से कोई आन्तरिक अथवा तात्त्विक सवंध है। यदि पद्य और छद को पर्याय की तरह माना जाए, तो भी कठिनाई कम नही होती। भारतीय छद-शास्त्रो मे छंदो का जो विस्तार है, वह इतना अद्भुत है कि उसके अन्तर्गत क्या कुछ नही आ जाता है। और भारतीय साहित्य मे काव्य शब्द भी बहुत व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है उसका सम्बन्ध पद्यात्मकता से अनिवार्य नही माना गया है।

अत जिसे हम परम्परा मे छद अथवा लय मानते आये हैं, वही आगे भी छद और लय माना जाना चाहिए, ऐसा आग्रह उचित नही है। मै यह नही मानता कि आज की कविता छदहीन अथवा लयहीन है और न यह मानने के लिए तैयार हूँ कि आगे की कविता ऐसी होने जा रही है। आज की कविता की अपनी लय है और अपना ही छंद-विधान है। प्रत्येक युग का काव्य अपने ही युग का छद आविष्कृत करता है और अपनी ही लय स्वीकारता है। आगे आनेवाली कविता अपने युग के अनुरूप छंद-लय ग्रहण करे तो इसमे आश्चर्य क्या? पिछले युगो की परम्परा की रुढियो को ढोनेवाले आलोचक यदि युग की आत्मा को विना पहिचाने अपने जड सस्कारवश आज की कविता को गद्य मात्र समझे अथवा भविष्य मे आनेवाली कविता के प्रति अविश्वास प्रकट करें, तो यह उनकी अपनी दृष्टि का दोष है। यह हो सकता है कि आधुनिक युग का सस्कार, अपनी विचित्र सक्रातिकालीन स्थिति के कारण पिछले युगो से अत्यधिक भिन्न लगता हो और इसके कारण आज की कविता की भाषा और शैली मे, छद-लय के विधान मे पिछले युगो से बहुत अन्तर है। इसी अन्तर को न समझ पाने अथवा न पहचान पाने के कारण हम

अनेक वार कविता मे गद्यात्मकता, लयहीनता अथवा बौद्धिक नीरसता की शिकायत करते हैं।

आज की कविता के आधार पर भविष्य की कविता की नाड़ी देखनेवालो का एक निदान यह भी है कि भावी कविता मे नीरसता बढ़ेगी। इधर कविता की आलोचना के क्षेत्र मे विशेष रूप से एक शैली चली है जिसके अनुसार मनुष्य को दो अलग-अलग भागो मे आसानी से बांट दिया जाता है। उसका एक अश जैसे भावनात्मक है और दूसरा बौद्धिक। इसी आधार पर जैसे यह भी कहा जाता है कि अब तक का काव्य भावना-प्रधान था, कोई-कोई तो उसे हृदय-तत्त्व-प्रधान भी कह जाते है। और इसी प्रकार आज का काव्य बुद्धि-प्रधान अथवा बुद्धिवादी कहा जाता है। किस जादू के डडे से यह करामात दिखाई जाती है, पता नही—आदमी का सिर अलग और धड अलग, भाव (हृदय) अलग और बुद्धि अलग। यह गोरखधधा मेरी समझ मे कभी आया नही।

यदि इसका अर्थ केवल इतना है कि पहले काव्य मे मानवीय भावनाओ का आवेग, आलोडन, सघर्ष अधिक अभिव्यक्त हुआ है और आज के काव्य मे चिन्तन, मनन, अध्ययन, तर्क-वितर्क को अधिकाधिक स्थान मिलता जाता है, तब तो समझना सरल है। पर, इससे कहाँ सिद्ध होता है कि पिछली कविता मे बुद्धिहीन भावुकता अधिक थी और आज की कविता मे भावहीन (नीरस) बौद्धिकता अधिक बढती जा रही है। भावनात्मक प्रक्रिया अपनी बौद्धिक पक्ष की प्रक्रिया के अभाव मे सभव नही है और कोई भी बौद्धिक मनन अपनी भावात्मक परिस्थिति से हीन नही होता, यह वात अलग है कि मध्ययुग के काव्य मे प्राथमिक (प्राइमरी ईमोशन) भावो का आधार अधिक ग्रहण किया गया है और अनेक वार कैशोरावस्था जैसा भावावेश पाया जाता है। और आज के युगजीवन की विषमता के परिणामस्वरूप काव्य मे भी इस मानसिक विषमता की अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु, इस तथाकथित बौद्धिकता से कवि और पाठक, दोनो मे गहरी और तीखी अनुभूति सवेदित होती है।

भविष्य के कवियो मे यदि वैयक्तिक चेतना का विकास होता गया तो उनके व्यक्तित्व की विशिष्टताओ का भी समुचित विकास हो सकेगा। इनको मै व्यक्तित्व की विभिन्नताओ के रूप मे नही देखता। वास्तव मे ये वैयक्तिक विशिष्टताएँ ही

भावी मानव के संपूर्ण विकसित व्यक्तित्व को संघटित करने मे सहायक होगी। छोटे अथवा बड़े विचार-मत क्या होते हैं, यह मै नही समझता। पर यदि इनका अर्थ यही है कि प्रत्येक कवि किसी निर्धारित राजमार्ग पर चलना न पसन्द करके अपनी पगडंडी की खोज स्वयं करना चाहेगा, तो मैं इसे शुभ ही मानूंगा। मैं मार्ग उसी को मानता हूँ, जिसे व्यक्ति ने स्वयं अपने लिए खोजा हो।

विचार अथवा मत की विभिन्नता से काव्य की परिभाषा मे जटिलता का प्रश्न कैसे उठता है? काव्य मे विविधता और अनेकरूपता होना अलग बात है, पर इस संपूर्ण वैविध्य के बीच भी भावी युग के काव्य की व्यापक परिभाषा तो एक हो सकती है और शायद आज के सक्रिय सहयोग (ऐक्टिव पार्टिसिपेशन) को ही भविष्य मे अधिक व्यापक सदर्भ मे ग्रहण किया जा सके।

परम्परागत मान्यताओं से दूर होने तथा परम्परागत संकेतों को त्यागने की बात मैं या तो मानता ही नहीं हूँ या एक विशेष अर्थ मे मान पाता हूँ। परम्परा की मान्यताओं, संकेतों और रूढियों को तोड़ कर आगे विकसित होने वाली परम्परा अन्तत परम्परा के क्रम मे ही आती है; उसमे पिछली ध्वस्त परम्पराओं मे अन्तर्निहित अनेक जीवन्त तथा सबल तत्त्व समाहित हो जाते हैं।

पिछली परम्पराओं के ध्वंस पर विकसित मान्यताओं मे यदि स्वास्थ्य और शक्ति होगी (जो होगी ही) तो उनके सम्बन्ध मे ह्रास और उपेक्षा का प्रश्न निरर्थक माना जाएगा।

मेरे उत्तरों के प्रकाश मे प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट हो जाता है। मैं आज की कविता के भविष्य मे आश्वस्त हूँ। मैं मानता हूँ, जो लक्ष्यभ्रष्ट होता है, उसे लक्ष्य मिलता है, जो कुण्ठाग्रस्त होता है, उसे भविष्य की आस्था का प्रकाश मिलता है, केवल लक्ष्यभ्रष्ट होने की अथवा कुण्ठाग्रस्त होने की सारी पीड़ा उसे झेलनी पड़ेगी और अकारण होकर झेलने पर ही व्यक्ति को अपना मार्ग सदा मिला है, इतिहास इसका साक्षी है।

चन्द्रदेव सिंह

अनगाया सावन

अन गाया बीत गया सावन, इस वर्ष भी ।

अनचाहे खिडको से झाँकना पडा रह
रह, पानी के पन्नो पर–
नन्हा-सा नाम एक
लिखना पडा रह-रह, बाँचना
पडा रह-रह
उतरे बादल मेरे आँगन, इस वर्ष भी ।

परचित स्वर-सा कोई बार-बार
टेरा किया
कजली बन, मेहदी वन,
नदी बन, हवा बनकर–
पथ जैसे रोका किया, छेडा किया
घेरा किया
कसे, क्या किरन के केश-बन्धन,
इस वर्ष भी ?
साँझ, खिले नायलन के फूलो,
वशी के स्वन
पलकों मे बिजली,
धर ओठो पर इन्द्रधनुष
आँचल पर टाँके दो खुले-खुले
से लोचन
और भी घिरे क्या कही ये घन,
इस वर्ष भी ?

नरेश

गीत

ये भागते-से क्षण हमारी जिंदगी के
क्या तुम्हारे पास जाएँगें ?

बहुत जी कर इन्हें रीता किया मैने,
बहुत चखकर इन्हें तीता किया मैने,
ये चुसे जो स्वर हमारी मेहदी के
क्या तुम्हारे पास गाएँगे ?

शफर से लदफदाती आ रही यह
जो बयार,
उठा पल्लू मे ढँक लूँ, चाहती है,
यह दयार,
मगर पुरहोश लमहे नशे के दर्द मे
बेअख्तियार,
बन कसे स्तोक ये इस जिंदगी के
क्या तुम्हें कुछ खास भाएँगे ?
उलीचे अजुलि भर-भर तरल पल,
घाट लग जाए,
टपक कर फिर भरे वे किन्तु, मेला
डगमगाए,
पक अवाँ मे पक-पुतले ये तुतलने को,
क्या तुम्हारी साँस पाएँगे ?

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

गीत

चाँद और सूरज रोते हैं,
मेरा जीवन-रस पीते हैं
इसीलिए नभ उतर रहा इन आँखों
की भाषा में।

शून्य और अवकाश छलकते,
मुझमें अगणित विश्व झलकते,
इसीलिए मैं ही आरोपित जग की
अभिलाषा में।

दिन दे सका न कुछ भी मन को,
रात सिंगार न पायी तन को,
इसीलिए मैं स्वप्न बना शाश्वत की
परिभाषा में।

*

गोवर्द्धन प्रसाद 'सदय'

निर्झर

निर्जनता में जीवन-कानन !
ढूँढ़ रहा था मन के तन में-
अपने भावों का नव पल्लव !

सहसा किसी व्यथा भीनी-सी,
तुम ज्वाला में भरी नमी-सी,
बोली-"जाओ, पर मत आना ;
बार-बार या मुझे छेड़ने
या रचने को नाम बहाना !

कहाँ तुम्हारा वह निश्चय है,
'अब न कभी आऊँगा तय है।'
बोलो, बोलो, फिर क्यों आये ?
ओ दुर्दिन के मेघ पुन: क्यों
घिर कर मेरे दृग में छाये ?
जाओ, चाह नहीं तुम आओ,
आँखों में मत दीप जलाओ।"

सुनकर बनी पनीली भाषा ;
अब तक आँखों की कोरों में
जागी जीवन की परिभाषा,
-गूँजी बिंधे हृदय की वाणी—
"अच्छा, जाता हूँ कल्याणी !
जाता हूँ, पर आनेवाला—
आएगा कल नव वसन्त ले
रस से भरा कुसुम का प्याला !
-तब देखोगी, कुछ गोपन है,
धूल-धूसरित एक सुमन है।
फिर जब अम्बर बदराएगा ;
मीरा की रट पर बेबोले-
जब घनश्याम उमड़ आएगा,
तब देखोगी, नयन प्रीत के—
सूने होंगे छन्द गीत के।"

*

माखन लाल चतुर्वेदी

दूबों के दरबार में

क्या आकाश उतर आया है
दूबों के दरबार में,

तसले का पानी यह
पन्चर की जगह पर—
उफनता है ,
रबड का गोल या कि चौकोर चप्पा
फिर—
वही पर चिपकता है ,
फिर वही फटा ट्यूब
ढाँचे पर चढता है ।
पहिया यह चलने के
काबिल बन जाता है ,
जरा-सी मरम्मत से
काम चल जाता है ।

*

रामेश्वर सिंह

रिश्ता

पास और दूर
कि घास, सिंदूर ।
तुम्हारे पास
कि जैसे घास
घास !
काल-अश्व का ग्रास,
अकुरती, करती विकास,
चर–चर जाता काल का घोडा बदहवास
उगना चरना—
प्रक्रिया—
शुक्रिया—
उतनी ही पुरानी,
उतनी ही नयी,
जितना नशा और नासूर ।
तुम से दूर—
कि माँग का सिंदूर ।
सिंदूर ।
नाक से शिर-पृष्ठ तक
अनति दूर ।
काली बीच लाली
ढँकती उजियाली
करती मजबूर,
कि दिखे वह कद्दूर ।
पुराना दस्तूर !
पास की घास,
दूर का सिंदूर,
दोनो की एक ही साँस ।
रह गया रीता—
रस-घट भरपूर !

*

राजेन्द्र माथुर

क्या बोला ?

मिस्टर मेहरा
चेहरा लाल,
सीने के बाल
साफ दीखते,
सर पर स्वेद,
मुँह मे वेद,
पुराण उराण, रेखते,
पर मोस्ट ऑफ ऑल
गीता !

'तुम्हारा लावण्यमय मुँह जैसे पपीता !
'तुम्हारा हँसना गुराये ज्यों चीता !
'तुम्हारा तरीका गमी से रीता !
'तुम्हारा वर्ताव—पार्वती, सीता !
तुम्हारा जल्वा मीठा, तीता !
'हे गीता ! गीता ! गीता ! गीता !'

मिस्टर मेहरा ! क्या बोला ?
'खड़े खेत पर गिरता ओला !
'पैर चमरौंधा, सिर पर मोला !
बगल में गठरी, हाथ में झोला,
अब आमी नोला !
बाबा ! बोला टोना !

बचनदेव कुमार

जिन्दगी, आदमी और आत्मा

यह जिंदगी !
जैसे बम्बई मेल की तीव्र रफ्तार हो
बिजली की बटन दबी
गूँज उठी
'रहना नहीं देस विराना है'
आदमी !
जैसे दुर्घटकार के जले स्नायुओं पर
लपेटे गये मैदे के मक्खन हो
बाहर से टीमटाम
भीतर है क्षणभंगुर भव राम ! राम !!
और आत्मा
उस पर तो आस्था नहीं
गोड़ा बादर में गोदा की गंध नहीं
अथवा नियतप्रश्न दर्शन पर विनाश
का प्रश्न है।

श्यामनंदन 'किशोर'

'इम्तहान'

इम्तहान !
घड़ी की सूई निर्जीव
बाँधती है ज्ञान !
इम्तहान !
मानो कुछ ज्ञानों ने
अन्धों को दृष्टि दी,
शिखंडी ने सृष्टि की !
पंखुड़ियाँ नोच-नोच
श्री सुरभि रंग को
जाँचता है बागवान !
मूलचून में
टिप्पणियाँ हाथ में !
सूर्य नमस्कार ज्यों रात में !
हा कबीर, 'पूजित तलवार नहीं, म्यान !'
विद्यालयों की फैक्टरियों में
यों ही गढ़े जा रहे
कागजी इन्सान !

डॉ० देवराज

एक सीताचरित (काव्य-नाटक)
प्रस्तावना (सीता स्वरभाग)

१

कौन यह रतनार-नीले नयनवाला
इस कुटी के पास आकर रुक रहा है,
बाहु लम्बे, वक्ष चौड़ा, पुष्ट कन्धे
ओज-श्रम में मधु मनोज्ञा छिप रहा है ?

२

गेहुँआ मुख-वर्ण, लालिम होठ जिसमे
पक्व कुंदरू से भमक दृग खीचते हैं,
वासना-रसराग ज्यो भीतर नमा कर
रग से अपने हवा को सीचते हैं।

३

बुद्धि की विज्ञप्ति पटिया-सा चमकता
भाल जिसमे इस समय पड बल रहे हैं,
नेत्र वे पैनी सतर्क निगाह वाले
जो सुघर मणि-दीपको से जल रहे हैं।

४

कौन ? जिसकी तेजसी मुख कान्तियाँ वे
दृष्टि दर्शक की झंपाती-सी विवश हैं,
सूंड-सी गजपोत की पृथु शक्त बाँहे
पोटने को ज्यो बनी जग-जय-सुयश हैं।

५

केश कुंचित, घूँघरो के मिस दिमागी
हो गयी बेचैनियाँ मानो प्रकट हैं,
'अर्ध-विधु-सा भाल' निज पग-चिह्न जिस पर
दौड कितने दे गये चिन्ता-शशक हैं।

६

दृष्टि अस्थिर भिन्न दिशियो मे न जाने
घूम-फिर क्या देखती औ' जाहती है।
गूढ, रहसीले विपिन विस्तार मे ज्यो
भेद अन्तर्हित कही कुछ टोहती हैं।

७

है अजब नर देख कर भी इस दिशा मे
ज्यो अभी उसने मुझे देखा नही है,
ला सकी रमणी-निकटता भी बदन पर
एक भी मुसकान की रेखा नही है।

८

यह अचल गभीर मुद्रा, मूक वाणी,
यह विजन, शकित हुआ है चित्त मेरा,
लौट मृगया से न आये बन्धु दोनो,
शीघ्र ही लग जाएगा झुकने अँधेरा।

९

अब बदलती दीखती उर-वृत्ति इसकी
देखने टक बाँध मुझको लग गया है,
मानने का भय नही अभ्यास मन को
दाहिना दृग पर फडकने लग गया है।

१०

देखता, फिर सिर नवा लेता, न जाने
द्वन्द्व इसके चित मे क्या चल रहा है,
इस अपरिचित वीर के मन मे अतर्कित
कौन-सा सकल्प जाने पल रहा है।

११

शत्रु है या मित्र, यह अथवा उदासी ?
राम को देना कि कुछ पाना इसे है ?
या कि जी भर देख मेरी बाह्य छवि को
तुष्ट मन चुपचाप चल जाना इसे है ?

१२

यो ठगी-सी दृष्टि से इसका निरखना
सत्य ही अप्रिय न मुझको लग रहा है,
मौन भगी, गूढ आकृति मे मगर कुछ
चित्त मे सदेह-जैसा जग रहा है।

१३

मित्र यदि होता निकट आ बात करता
दुष्ट इंगित कुछ प्रकटता शत्रु निश्चय,
कौन चिन्ता-मग्न-सा चुप यो खडा हो
दृष्टि भर से दे रहा सौहार्द-परिचय ?

१४

फिर फडकते अग दक्षिण, सोचती हूँ
दीर्घ धनु मे विष विशिख सधान लूँ,
रंच भी व्यवहार मे यदि खोट झलके
बेझिझक इसके तुरत मैं प्राण हर लूँ।